विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ५
अंक २

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक म । विधा । टा । ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – जून १९६७

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह – सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नं० १०४६

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय

स्वामी विवेकानन्द, (कोलम्बो में १५ जनवरी १८९७)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ५] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) १९६७ एक प्रति का १)

ब्रह्म क्या है ?

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥
यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥

—उसे तुम ब्रह्म जानो जिसकी प्राप्ति हो जाने पर और कुछ भी पाने का नहीं रह जाता, जिसके सुख के आगे बाकी सारे सुख फीके पड़ जाते हैं और जिसका ज्ञान हो जाने से संसार में और कुछ जानने का बाकी नहीं रह जाता।

उसे तुम ब्रह्म जानो जिसको देख लेने पर और कुछ देखने का नहीं रहता, जिसके स्वरूप को प्राप्त हो जाने पर आवागमन का चक्र बन्द हो जाता है और जिसको जान लेने पर और कोई ज्ञेय नहीं बचा रहता।

—आत्मबोध, ५४-५५

गो-हत्या का पाप

किसी गाँव में एक ब्राह्मण रहता था। वह पहले एक साहब के यहाँ दरवान था। वहाँ नौकरी करते हुये उसने माली के साथ रहकर बगीचे का काम भी सीख लिया। जब उसने नौकरी से अवकाश ग्रहण किया तो अपने गाँव में आकर थोड़ी जमीन खरीद ली और उसमें फुलवारी लगा दी। उसने कायदे के साथ पेड़-पौधे उगाये। वह स्वयं उस बगीचे के लिये बड़ा श्रम करता और इस प्रकार चार-पाँच वर्षों में उसने बढ़िया बाग तैयार कर लिया। जो भी उस बगीचे में आता, वहाँ के लता-गुल्मों और पेड़-पौधों को देखकर बड़ा खुश हो जाता। जब उन्हें मालूम पड़ता कि उस ब्राह्मण ने स्वयं अपने परिश्रम से बाग तैयार किया है तो वे उसकी वाहवाही के पुल बाँध देते और वह भी अपनी प्रशंसा से कुप्पा होकर उत्साह के साथ बताता कि किस प्रकार गोरे साहबके बँगले पर उसने बागवानी सीखी थी।

एक दिन जब ब्राह्मण बाहर से बगिया में लौटा तो देखकर सन्न रह गया कि बगिया का फाटक खुला हुआ है। उसे आशंका हुई कि कहीं कोई जानवर तो बगीचे में नहीं घुस गया है। वह धड़कते हृदय से अन्दर गया तो देखा कि उसके बगीचे के एक बड़े भाग को एक गाय ने चरकर नष्ट कर दिया है। वह क्रोध से अपने आपे से बाहर हो गया और लाठी उठाकर गाय

को मारने के लिये दौड़ पड़ा। इतनी निर्ममता से उसने गाय पर प्रहार किया कि गाय वहीं ढेर हो गयी। अब तो ब्राह्मण डरा। हरे! हरे! यह तो क्रोध में मुझसे गो-हत्या हो गयी। उसे डर भी लगा कि लोग यदि जान लें कि मैंने गो-हत्या की है तो मुझे जाति से अलग कर देंगे। उसने सोचा कि गाय को कहीं छिपा दूँ ताकि कोई देख न ले। वह गाय की लाश को एक ओर घसीट ले गया और कचरे और सूखे पत्तों के ढेर में दबा दिया।

जब वह गाय की लाश को इस प्रकार छिपाकर लौट रहा था तो उसने देखा, एक भयंकर आकृति का काला-कलूटा, लाल-लाल आँखों वाला पुरुष उसी की ओर आ रहा है; उसके हाथ में मोटा सोटा है और वह घूर-घूरकर उसी की ओर देख रहा है। ब्राह्मण डर गया। उस व्यक्ति के पास आने पर ब्राह्मण ने काँपते काँपते पूछा, "क्यों भाई, तुम क्या चाहते हो ?" उस काले व्यक्ति ने उत्तर दिया, "मैं गो हत्या का पाप हूँ। अब तुम्हारे सिर पर चढ़ूँगा।" सुनते ही ब्राह्मण के होश उड़ गये। पर अचानक उसे एक बात सूझी। उसने कहीं पढ़ा या सुना था कि मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों के अलग अलग देवता हैं। जैसे आँख का देवता सूर्य है, हाथ का देवता इन्द्र है आदि आदि। इन देवताओं की शक्ति से ही ये अंग अपना-अपना कार्य करते हैं। उसने तुरत गो-हत्या के पाप से कहा, "पर

भाई, मैंने थोड़े ही यह हत्या की है। हाथों का देवता तो इन्द्र है। उसी ने हाथों को लाठी चलाने की शक्ति दी। यदि इन्द्र ने ऐसा न किया होता तो लाठी नहीं चलती। और यदि लाठी नहीं चलती तो गाय न मरी होती। अतः तुम्हें तो इन्द्र के सिर पर चढ़ना चाहिये, न कि मेरे।"

उस पापपुरुष को यह तर्क जँच गया और वह इन्द्र के पास गया। जाकर इन्द्र से बोला, "मैं गो-हत्या का पाप हूँ, मैं आपके सिर पर चढ़ूँगा।" इन्द्र चकित हो गये। बोले, "मैंने कब गो-हत्या की? तुम गलत जगह आ गये हो!" तब पापपुरुष ने उस ब्राह्मण की बात बतलायी और उसका तर्क इन्द्र के सामने रखा। इन्द्र बोले, "ठीक है, तुम थोड़ा रुको। मैं उस ब्राह्मण के पास जाता हूँ। तुम भी मेरे पीछे-पीछे आओ। तुम सारी बात समझ लोगे।"

इन्द्र और पापपुरुष दोनों ने अपना वेश बदल लिया और भिक्षुक के रूप में उस बगीचे में पहुँचे। देखा कि ब्राह्मण कुछ दूर क्यारियों में काम कर रहा है। मानो ब्राह्मण को सुनाते हुये इन्द्र ने पापपुरुष से कहा, "देखो, देखो, कैसे सुन्दर पौधे हैं! फूल भी कितने बड़े बड़े हैं! बगीचा बड़ा सुन्दर सजा है।" ब्राह्मण ने उन दोनों की बातें सुन लीं और उनके पास आकर बोला, "उधर चलिये, उधर बड़ी अच्छी-अच्छी क्यारियाँ हैं।" इन्द्र ने पूछा, "क्या यह बगीचा आपने

लगाया है ?" ब्राह्मण बोला, जी हाँ, "मैंने ही अपने हाथों से यह बाग तैयार किया है। मुझे उसके पीछे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है।"

सुनते ही इन्द्र अपने असली रूप में आ गये और पाप-पुरुष को भी अपना वास्तविक रूप ले लेने के लिये कहा। फिर उस ब्राह्मण की ओर मुड़कर बोले, "रे दुष्ट, जब तूने अपने इन हाथों से बगीचा लगाया तब तो सारा श्रेय तूने खुद लिया, और जब इन्हीं हाथों से तूने गो-हत्या की, तो मैं—इन्द्र—उसका हत्यारा हो गया!" पाप-पुरुष की ओर मुड़कर इन्द्र बोले, "अब क्या देखते हो? फैसला तो हो गया!" देखते ही देखते पापपुरुष ब्राह्मण के सिर पर चढ़ गया।

लोग इसी प्रकार अपने अच्छे कार्यों और पुण्यों का श्रेय तो अपने ऊपर ले लेते हैं और जब बुरे कर्म या पाप करते हैं तो भगवान को इसके लिये दोषी ठहराते है। यह संसारी मनुष्यों का स्वभाव है। जो सदाचारी हैं वे ठीक इसका उलटा करते हैं। उनसे जो कुछ सत्कर्म होता है, उसे भगवान की कृपा मानते हैं और भूल से जो कुछ अवांछनीय कर्म हो जाते हैं उनके लिए स्वयं को दोषी ठहराते हैं और भगवान से क्षमा माँगते हैं। इससे मनुष्य की उन्नति का पथ प्रशस्त होता है।

ध्यान का विज्ञान

ब्रह्मलीन स्वामी ज्ञानेश्वरानन्दजी, रामकृष्ण मिशन

(१)

भारतीय इतिहास के प्रत्यूष काल से ही आर्यों ने मानव-जीवन की भीतरी शक्तियों के विकास और संवर्धन को बड़ा महत्वपूर्ण माना है। दीर्घकाल व्यापी प्रयोगों और अनुभवों के फलस्वरूप उन्होंने इन शक्तियों की तीव्रता और पवित्रता को बढ़ाने के लिये एक विशेष प्रणाली का आविष्कार किया। उन्होंने एक मूलभूत सिद्धान्त यह घोषित किया कि मानव-शरीर विभिन्न स्तरों की जीवता में बँटा हुआ है। इन स्तरों को पुष्ट एवं संवर्धित करने, उन्हें विराम देने तथा पुनः सशक्त करने के कई उपायों को भी उन्होंने खोज निकाला।

भारत में ध्यान का जो विज्ञान विकसित किया गया उसका लक्ष्य यह था कि मन को आवश्यक आहार और पोषण-तत्व प्राप्त हो सकें तथा उसे उचित व्यायाम, विराम और विश्राम मिल सके। उसका एक अभिप्राय यह भी था कि मन के विकास के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाय। अतः ध्यान की व्याख्या एक ऐसे विज्ञान के रूप में की जा सकती है जो मन को आहार देता है; व्यायाम, विराम और विश्राम प्रदान करता है तथा ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिससे मन की सर्वोच्च पूर्णता प्रकट हो सके।

हम इस उपमा को समझने का प्रयास करें। अपने स्थूल शरीर के लिए आहार ग्रहण करते समय प्राकृतिक नियम यह है कि जब पाचन-क्रिया होती है तब हमें व्यय और नाश के क्रम में से जाना पड़ता है। इस खर्च को प्रकृति के अन्य स्रोतों से हमें पूरा करना पड़ता है। हम भोजन किस लिए करते हैं ? इसलिए कि कार्य करते हुये जिन तत्वों और उपादानों को हमने खर्च कर दिया है उनकी पूर्ति हो सके। पर एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि हम जिसे भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं केवल वही हमारे भौतिक शरीर का आहार नहीं है; बल्कि हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी शरीर के पोषण और विकास के लिए आहार ग्रहण कर रही हैं। भोज्य पदार्थ के चुनाव में हमें बड़ी सावधानी करनी पड़ती है, क्योंकि वह जैसे अच्छा हो सकता है, वैसे ही बुरा भी। अपनी मानसिक शक्ति को सतेज बनाये रखने के लिए भी हम बाहरी साधनों से आहरण करते हैं। ध्यान का एक विशेष प्रकार है जिसके द्वारा हम अपने आपको उन सूक्ष्म स्रोतों के सतत संस्पर्श में रख सकते हैं जहाँ से हम बिना कुछ व्यय के पर्याप्त मात्रा में आध्यात्मिक आहार ग्रहण कर सकते हैं। अतएव जिस प्रकार हम अपने भौतिक आहार के चुनाव में सतर्कता बरतते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक आहार के बारे में भी हमें सावधानी रखनी चाहिए।

(२)

दूसरी विचारणीय बात है—मन के लिये आवश्यक व्यायाम की व्यवस्था करनी चाहिये। हम जानते हैं कि व्यायाम के अभाव में हमारे स्नायु और मांसपेशियाँ शिथिल और अक्षम होने लगती हैं। उनको नियमित व्यायाम देकर उनकी कुशलता, सक्षमता और शक्ति को आश्चर्यजनक रूपसे बढ़ाया जा सकता है। कई पहलवानों ने प्रदर्शित किया है कि अनुकूल व्यायाम के द्वारा मांसपेशियों और शरीर के अन्य अंगों की कार्यकुशलता और क्षमता को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है। एक किसान की कथा है जो अपने प्रिय बछड़े को उठाकर नाले के पार ले जाया करता था। यह उसका प्रतिदिन का कार्य था। बछड़ा धीरे धीरे बड़ा हो गया। पर तो भी किसान उसे उसी प्रकार उठाकर नाले के पार ले जाया करता था। किसान को ख्याल ही न आया कि बछड़ा अब इतना बड़ा हो गया है। जब उसका ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया तब उसे अनुभव हुआ कि सचमुच यह तो साँड़ है जिसे वह इतना सुगमता से उठा लिया करता है। भले ही यह एक कहानीमात्र हो तथापि निःसंदिग्ध रूप से यह प्रदर्शित करता है कि मनुष्य नियमित अभ्यास के द्वारा किस प्रकार अपनी मासपेशियों की शक्ति को असम्भव सी प्रतीत होनेवाली ऊँचाई तक पहुँचा सकता है।

इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि अभ्यास के द्वारा हम अपनी शारीरिक शक्ति का आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा सकते हैं। मानसिक शक्तियों के विकास के लिए भी यह बात सत्य है। उचित अभ्यास के अभाव में हमारी आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियाँ शिथिल और सुप्त हो गई हैं। फलस्वरूप हम अपने मन का नियंत्रण खो बैठे हैं; स्मृतिशक्ति नष्ट हो गई है; विवेक, दूरदर्शिता और अन्य मानसिक शक्तियों को हम खो चुके हैं। कई लोगों ने अपनी इन सूक्ष्मतर मानसिक शक्तियों को अभ्यास के द्वारा आश्चर्यजनक रूप से विकसित किया है। इससे प्रमाणित होता है कि कोई भी व्यक्ति नियमित और वैज्ञानिक अभ्यास के द्वारा अपनी इन शक्तियों का विकास कर सकता है।

ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्होंने एकाग्रता की शक्ति का इतना विकास किया है कि वे एक दृष्टिमात्र से पूरी पुस्तक को पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ ले सकते हैं। इसके पीछे के मनोवैज्ञानिक रहस्य को समझना कठिन नहीं है। हम जानते हैं कि जब शिशु पढ़ना सीखता है तो वह एक एक अक्षर से शुरू करता है। वह शब्द का मतलब समझने के पहले उसका उच्चारण कर लेता है। बड़ा होने पर शब्दों को पढ़ने की शक्ति उसकी बढ़ती है और कुछ अधिक उम्र होने पर एक दृष्टिमात्र से वह एक पूरे वाक्य को पढ़ ले सकता है। इस शक्ति को थोड़ा और विकसित करने पर एक पूरी विचारधारा या एक पूरा

पैराग्राफ एक ही दृष्टि में पढ़ा जा सकता है। मन की केन्द्रित होने की शक्ति को और भी बढ़ने पर हम एक पूरे पृष्ठ को उसी सुगमता से पढ़ ले सकते हैं जैसे वह एक वाक्य या पैराग्राफ मात्र हो।

कई बार हमारे जीवन में कुछ समस्यायें आकर खड़ी होती हैं। चूँकि हम नहीं जानते कि हम मन को कैसे शान्त बनायें। उसे कैसे स्थैर्य और निश्चंचलता की स्थिति में ले जायें इसलिये हम किसी रचनात्मक निश्चय पर नहीं पहुँच पाते। पर एकाग्र हुआ मन किसी भी समस्या की गहराई में सहजता से उतर सकता है और ऐसे आश्चर्यजनक समाधान को खोज ले सकता है जिसकी कल्पना तक एक क्षुब्ध मन के लिये संभव न हो पाती।

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि पूरी तरह विकसित और एकाग्र मन किस प्रकार हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन के लिये लाभकारी सिद्ध होता है। भले ही व्यक्ति-जीवन में कैसा भी लक्ष्य क्यों न रखे पर उसके लिये मन को विकसित करना और स्वस्थ बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

जो मन ध्यान और एकाग्रता के अभ्यास के द्वारा संस्कारित और प्रशिक्षित नहीं हुआ है वह नहीं जान सकता कि कतिपय परिस्थितियों के अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव कैसे पड़ सकते हैं। ध्यान का अभ्यास करने वाला मन किसी भी परिस्थिति में अपने आपको शीघ्र खपा

लेता है और उस वातावरण का अधिकतम लाभ उठाने में सक्षम होता है। यदि उसे किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता हुई तो ऐसा मन उन व्यवहारिक, मानसिक और अध्यात्मिक प्रक्रियाओं को निश्चित रूपसे जान लेता है जिनके द्वारा उपर्युक्त परिवर्तन सावित हो सकता है।

(३)

मन को पूरी तरह विराम और विश्राम देना बड़े महत्व का है। प्रकृति नटी ने शरीर के विराम के लिये दो दिन के बीच रात की दीवाल खड़ी करके एक अद्भुत व्यवस्था की है। किन्तु अशक्त और बोझ से दवा हुआ मन संभवतः नींद में भी अच्छी विश्रान्ति नहीं पाता। ध्यान की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा मन का पूरा बिराम दिया जा सकता है। जब कुछ दिनों तक लगातार पर्याप्त मात्रा में हमें नींद नहीं होती, हम जानते हैं कि हमारी दशा कैसी विचित्र हो जाती है। इस बेचारे मन ने जब से जीवन का प्रभात देखा है तब से लेकर जीवन सूर्य के अस्त होने तक हम उसे नींद, विराम और विश्रान्ति से दूर रखते हैं। आश्चर्य नहीं कि इससे वह शिथिल और कमजोर पड़ गया हो। पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें सहने की बड़ी अद्भुत क्षमता है, अन्यथा जो निर्मम घात-प्रतिघात उस पर लगातार पड़ते रहते हैं उनसे तो वह कब का चूर-चूर हो गया रहता।

मन के लिये अत्यन्त आवश्यक यह विराम और

विश्राम ध्यान की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कई बार हम सोचते हैं कि कर्म के परिवर्तन से हमें विश्रान्ति मिलेगी। पर यह धारणा गलत है। भले ही हम सोचते हों कि हम विश्राम कर रहे हैं पर वास्तव में वैसा नहीं है। तब हम क्या करते हैं। केवल इतना ही कि हम मन से उन कार्यों को उतार देते हैं, जो तनाव से भरे और थकाने वाले होते हैं तथा बदले में एक ऐसा नया काम मन में बिठा देते हैं जो अपेक्षाकृत हल्का होता है। पर इसे यथार्थ विश्राम की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मन का वास्तविक विश्राम तो वह है जहाँ पर वह किसी भी प्रकार के भौतिक, बौद्धिक अथवा भावनात्मक बोझ से लदा हुआ नहीं रहता। मन जब पूर्ण रीति से मुक्त होता है, जब वह अन्य किसी वृत्ति के द्वारा नियंत्रित और शासित नहीं रहता तभी वह स्वतंत्रता और विश्रान्ति का उपभोग करता है। मन की इस अवस्था को ध्यान और एकाग्रता की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी मन में थकावट, हताश अथवा ऊब का भाव आया करता है। इसका कारण हमारी मानसिक अनिश्चितता ही है जो हमें हर समय घेरे रहती है। इस अनिश्चितता का जन्म और दृश्य "मैं" और "मैं नहीं" की गलत धारणा के कारण होता हैं। वह तो दृश्य यानी "मैं नहीं" ही हैं जो गतिशील है, जो सब कुछ कर रहा है और इस जागतिक प्रपंच में क्रियाशील हो रहा

है। यथार्थ द्रष्टा अथवा "मैं" साक्षी है, वह प्रकाशक है। वह न तो शरीर की और न मन की ही किसी क्रिया में सक्रिय भाग लेता है। वह स्वयं ज्योतिस्वरूप है और अपनी आभा से शरीर और मन की क्रियाओं को प्रकाशमान करता है। हम जिस क्षण अपने बोध में इस "मैं" और "मैं-नहीं" का विवेक करने में समर्थ होते हैं, उसी क्षण यह "मैं" अथवा द्रष्टा मुक्ति, विराम और स्थैर्य का अद्भुत अनुभव प्राप्त करता है। इस आश्चर्यजनक घटना पर विशेष जोर देना आवश्यक है। क्या यह विचित्र बात नहीं है कि यह जानते हुए भी कि हमारे एक शरीर है और मन है, हम व्यवहार में मान लेते हैं कि हम ही शरीर और मन हैं! इसे एक सरल तर्क द्वारा समझा जा सकता है। जब हम कहते हैं "मेरे एक और मन है" तो मेरे "अपने" और शरीर एवं मन के बीच का सम्बन्ध स्वामी और सेव्य का हो जाता है। शरीर और मन सेव्य हैं जिनका स्वामी यह यथार्थ "मैं" है। तब फिर स्वामी और सेव्य के सम्बन्ध में यह अर्थहीन भ्रम क्यों उत्पन्न होता है? दिन-प्रतिदिन के जीवन में क्या हम सेव्य को ही स्वामी नहीं मान रहे हैं? हम जिसे "मैं" समझते हैं क्या यह शरीर और मन के साथ एक रूप नहीं हो गया है? आखिर वह स्वामी गया कहाँ? असल बात तो यह है कि यथार्थ "मैं" की प्रतीत ही नहीं हो पाती। पर ज्योंही हम इस वास्तविक "मैं" को खोज लेते हैं और उसे उसके शाश्वत महिमान्वित सिंहा-

सन पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, त्योंहीं हमें विश्रान्ति और स्थैर्य का एक अद्‌भुत अनुभव प्राप्त होता है। हम उस समय शरीर से भले ही कुछ करते हों, पर हमारा मन एक दम उन्मुक्त होता है। हमें ज्योंहीं इस उच्चतर "मैं" के अलग अस्तित्व का बोध होता है त्योंही तीव्र कार्यशीलता के बीच भी हम परम विश्रान्ति का उपभोग करते हैं।

(४)

ध्यान का उद्देश्य है : अपनी उच्चतर प्रकृति के शान्तिमय और परिपूर्ण स्वरूप को जान लेना। एक उपनिषद् में इस स्वरूप का बड़ा सुन्दर वर्णन एक दृष्टान्त के द्वारा किया गया है।

मानव-जीवन मानो एक विशाल वृक्ष है, जिसकी जड़ें अज्ञान और अनन्त की अतल गहराई तक फैली हुई हैं। वह अनन्त ब्रह्म के रस से पुष्ट और वर्द्धित होता है। अनवरत जन्म-मृत्यु के चक्र में सञ्चित होने वाले कर्म के संस्कार इस वृक्ष का तना है। वृक्ष की चोटी पर अपनी महिमा में मग्न आत्मतुष्ट और स्वयं ज्योति एक पक्षी बैठा है। वह सर्वदा प्रसन्न है और अपने अस्तित्व, आनन्द अथवा ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं है। यह चारों ओर प्रकाश और आभा बिखेरता है। वृक्ष का निम्न भाग उस स्वर्गिय आलोक से आलोकित है। वह अपने महिमामय सिंहासन का कभी त्याग नहीं करता क्योंकि उसे कोई कामना नहीं है। उसे सब कुछ प्राप्त है।

उसी वृक्ष की एक टहनी पर दूसरा पक्षी बैठा है जो दिखने में पहले ही पक्षी के समान है उसका अपना कोई नियत स्थान नहीं वह लगातार एक शाखासे दूसरी शाखा पर फुदक रहा है। वह हरदम भूखा और प्यासा है। उसकी तृष्णा और लालच का क्या कहना! वह जितनाही खाता है, उतना ही अधिक भूखा दिखाई देता है। नये-नये फलों को खोजने और उनका स्वाद लेने में ही उसके जीवन के क्षण व्यतीत हो रहे हैं। जब वह किसी मधुर फल को चखता है तो थोड़ी देर के लिए सुखी और प्रसन्न होता है। पर तत्काल बाद उसके मन का सन्तोष नष्ट हो जाता है और वह पुनः अपने को भूखा महसूस करता है। वह दूसरे फल की ओर लपकता है जो शायद कडुआ निकल जाता है। ज्योंही वह इसे चखता है, उसे एक धक्का लगता है; वह विषण्ण हो जाता है और चारों ओर देखता हुआ ऊपर के पक्षी की गरिमा, शान्ति आभा और सौन्दर्य की एक झलक पा लेता है। उसे एक बड़े आकर्षण का अनुभव होता है और ऊपर के उस पक्षी तक पहुँचना चाहता है, पर दूसरे ही क्षण वह यह सब भूल जाता है और पुनः दूसरे फलकी ओर लपकता है। इस प्रकार अनजाने ही फलों की ओर लपकता हुआ नीचे का यह चञ्चल पक्षी लगातार ऊपर के पक्षी की ओर अग्रसर हो रहा है। जब एक प्रकार की तुष्टि उसे मिलती है और जीवन के भोगों से ऊब-सा जाता है तो वह नये फलों की खोज में पुनः चक्कर काटना नहीं चाहता। वह सीधे

ऊपर के पक्षी की ओर उड़ जाता है, और वहाँ पहुँच भी जाता है किन्तु अधिकतर घटनाओं में ऊपर के पक्षी की ओर जाना बहुत ही धीमी गति से होता है। अन्ततोगत्वा, जब नीचे का पक्षी ऊपर के पक्षी के समीप पहुँचता है तो देखता है कि ऊपर के पक्षी की आभा, शान्ति, स्थिरता और पूर्णता स्पष्ट रूप से उसके अपने व्यक्तित्व में प्रतिबिंबित हो रही है। अन्त में वह ऊपर के पक्षी में मग्न हो जाता है और अपना अलग अस्तित्व खो देता है। वह अनुभव करता है कि नीचे का पक्षी केवल एक छाया थी; सब कुछ केवल माया थी; एकमात्र ऊपर का वह पक्षी ही हर समय सत्य था जिसने जीवन-वृक्ष के वर्धन और विकास में कभी कोई सक्रिय भाग नहीं लिया।

हमारी प्रकृत आत्मा ही ऊपर का पक्षी है। हमारा शारीरिक और मानसिक अस्तित्व नीचे का पक्षी है जो ऊपर के पक्षी की छायामात्र है। अतएव हमारा सतत प्रयास अपने आपको ऊपर के पक्षी की स्थिति में लाने का होना चाहिये।

हरदम अपना ध्यान उस स्वयं ज्योति पक्षी पर ही केन्द्रित करो। जानलो कि तुम साक्षी आत्मा हो। भीतर घोषणा करो "मैं शरीर अथवा मन नहीं हूँ-शरीर और मन मेरे हैं। मेरा यथार्थ 'मैं' न तो भौतिक शरीर है और न मन ही। मैं शरीर से हरदम अलग हूँ, चिर स्वतंत्र और मुक्त हूँ। मैं साक्षी हूँ शारीरिक धरातल पर

उठने और गायब होने वाली प्रत्येक संवेदना का मैं दर्शक और ज्ञाता हूँ; मैं इन संवेदनाओं में किसी प्रकार का भाग नहीं लेता। आनन्दस्वरूप हूँ। आत्मतुष्ट हूँ, स्वयं-ज्योतिमान और सत्स्वरूप हूँ। मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ। अहं ह्यास्मि, अहं ब्रह्मास्मि। सोऽहं; सोऽहं!"

अपने तईं यह घोषणा करते हुए और अपनी भावनाओं को ऊपर के पक्षी पर दृढ़ रूप से स्थापित करते हुए मन को उन्मुक्त रूप से विचरने दो। उसे रोको मत। नीचे का पक्षी जहाँ इच्छा हो जाये; जो इच्छा हो खाये। यदि उसे इस बात की प्रतीति है कि ऊपर का पक्षी हर समय उसे देख रहा है तो वह अधिकाधिक स्थिर और शान्त बनेगा, उसमें ऊपर अपने यथार्थ निवास की ओर जाने के लिए तड़पन पैदा होगी। यही ध्यान का रहस्य है।

('प्रबुद्ध-भारत' से साभार।)

स्वामी अभेदानन्द

डा० नरेन्द्रदेव वर्मा

सन् १८८४ की एक तपती हुई दुपहरी में कलकत्ते से लगभग १८ वर्ष का एक युवक श्रीरामकृष्ण परमहंस का दर्शन करने दक्षिणेश्वर पहुँचा। उस समय श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में नहीं थे। वे किसी भक्त के द्वारा आमंत्रित होकर कलकत्ता चले गये थे। जब युवक को यह पता चला कि वे रात को वापस लौटेंगे तो उसे बड़ी निराशा हुई और वह खिन्न चित्त से एक वृक्ष के नीचे बैठकर दक्षिणेश्वर के सन्त की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही देर बाद श्रीरामकृष्ण के बालक-भक्त शशि उधर से निकले। उन्होंने उस युवक से दक्षिणेश्वर आने का प्रयोजन पूछा। जब शशि ने यह जाना कि युवक ने भोजन नहीं किया है तब उन्होंने उसके भोजन की व्यवस्था की।

श्रीरामकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में वह युवक अत्यन्त व्याकुल था। धीरे-धीरे दिन ढल गया और रात भी आ गयी। किन्तु श्रीरामकृष्ण तब तक नहीं लौटे थे। व्याकुलता की घड़ियाँ समाप्त हुईं। रात के लगभग ८ बजे श्रीरामकृष्ण वापस आये। युवक के हर्ष का ठिकाना ही न था। वह सीधे उनके कमरे में पहुँचा और उन्हें प्रणाम किया। इसके बाद उस युवक ने बिना किसी हिचकिचा-

हट के श्रीरामकृष्ण से कहा कि वह उनसे योग सीखने के लिये आया है जिससे उसे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो सके। श्रीरामकृष्ण ने उस युवक को देखते ही उसकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं की प्रतीति कर ली थी। वे जान गये थे कि यह उनके अन्तरंग लीला-सहचरों में से एक है। वे उसकी इच्छा को जानकर अतीव हर्षित हुए। उन्होंने कहा, "तुम पूर्वजन्म में एक महान योगी थे। किन्तु यह तुम्हारा अन्तिम जन्म होगा। मैं तुम्हें योग के रहस्यों से परिचित कराऊँगा, तुम्हें योग की शिक्षा दूँगा।" इतना कहकर वे समाधिस्थ हो गये और उन्होंने उस युवक को अपनी ओर खींचा। अपना एक हाथ उसके वक्ष में रखते हुए श्रीरामकृष्ण ने दूसरे हाथ की अँगुली से उसकी जिह्वा में इष्ट मन्त्र लिख दिया। युगावतार के देवदुर्लभ स्पर्श से वह युवक तत्काल गहन समाधि में लीन हो गया। कालान्तर में श्री रामकृष्ण के निर्देशन में उसे अनेकानेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हुईं।

यही युवक बाद में स्वामी अभेदानन्द के नाम से विख्यात हुआ। स्वामी अभेदानन्द का पूर्व नाम कालीप्रसाद चन्द्र था। उनका जन्म कलकत्ते के अहीरटोला मुहल्ले में २ अक्टूबर सन् १८६६ को हुआ था। उनकी माता श्रीमती नयनतारा देवी माँ काली की भक्त थीं। बहुत काल तक उनके कोई पुत्र न होने से उन्होंने माता काली से पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की थी। इसलिये जब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई तब उन्होंने उसका नाम कालीप्रसाद

रखा। कालीप्रसाद के पिता श्रीयुत् रसिकलाल चन्द्र भी धार्मिक रुचि से सम्पन्न थे। वे कलकत्ता के ओरिएन्टल सेमिनरी में अध्यापक थे। बालक कालीदास पाँच वर्ष की आयु में ही पढ़ने लगे। अध्ययन और चित्रकला की ओर उन्होंने गहरी रुचि दिखायी और खेल-कूद में भी वे प्रवीण थे। अन्यान्य होनहारों के समान वे भी बाल्यावस्था में रामायण और महाभारत की कथाओं को तल्लीनता से सुना करते थे तथा महापुरुषों का जीवन-चरित्र सुनते समय विमुग्ध हो जाते थे।

× (छात्रावस्था से ही संस्कृत की ओर उनकी गहरी रुझान थी। १८ वर्ष में उन्होंने एण्ट्रेंस परीक्षा विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर ली। किन्तु कालीप्रसाद अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से सम्पन्न थे। वे दार्शनिक बनना चाहते थे। उन्होंने विलसन के 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ में शंकराचार्य के विषय में पढ़ा था और वे उनकी अपूर्व मेधा से अतीव प्रभावित हुए थे। इससे उन्हें जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिला। गीता के अध्ययन से उनकी तत्ववेत्ता बनने की इच्छा अधिक बलवती हुई। एक ओर तो वे महान आचार्यों के विचारों का अध्ययन करना चाहते थे और दूसरी ओर वे आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए विकल थे। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महान संतों की जीवनी का अनुशीलन किया था तथा छात्रावस्था में ही जॉन स्टुअर्ट मिल की 'लॉजिक' और 'थ्री एसेज़ ऑन रिलीज़न' हर्शेल की

'एस्ट्रानॉमी' लेविस की 'हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी' और हेमिल्टन कृत 'फिलॉसफी' जैसी गूढ़ पुस्तकों का पारायण कर लिया था। इसके साथ ही उन्होंने कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट प्रभृति महान कवियों का भी सम्यक् अध्ययन किया था।

कालीप्रसाद उदार दृष्टिकोण से सम्पन्न थे। सभी धर्मों के प्रति उनकी सहानुभूति थी। उन्होंने ईसाई, ब्राह्म और हिन्दू धर्मावलम्बी विद्वानों के विचारों का गहरा अनुशीलन किया था। सन् १८८३ में उन्हें श्री शशधर तर्कचूड़ामणि का हिन्दू-दर्शन के षडांगों पर भाषण सुनने का अवसर मिला। वे महर्षि पतंजलि के योगदर्शन से अतिशय प्रभावित हुए। इसी के उपरान्त वे योग-साधना की शिक्षा प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठे थे। उन्होंने सुना था कि योग का पथ अत्यन्त दुरूह होता है तथा उसमें सुयोग्य गुरु के निर्देशन में ही चला जा सकता है। वे एक ऐसे गुरु की प्राप्ति के लिये विकल हो गये जो उन्हें योग की दीक्षा दे और निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने की विधि बताये। उनके एक मित्र ने उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के समीप जाने का सुझाव दिया था।

इसीलिये कालीप्रसाद दक्षिणेश्वर पहुँचे थे और श्रीरामकृष्ण देव के चरणों में आत्मसमर्पण किया था। युगावतार के प्रथम दर्शन से ही उनके मन-प्राण आध्यात्मिकता की चिरप्रगल्भमयी सरिता की वेगवती लहरों

का सतत अनुभव कर रहे थे। वे समय मिलते ही दक्षिणेश्वर पहुँच जाया करते और पूर्व के इस महान संत के चरणों के समीप बैठकर चिरतृषातुर भाव से उनके वचनामृत का पान किया करते। उन्हें इस सत्य की प्रतीति हो गयी थी कि श्रीरामकृष्णदेव उस परम सत्ता के जीवन्त विग्रह हैं, जिसे संसार के सभी धर्मों और दर्शनों ने समझाने का प्रयास किया है। श्रीरामकृष्ण की कृपा से वे यह जान गये थे द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत भाव-साधनाएँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की परिपूरक हैं। ये प्रणालियाँ चरमसत्य की प्राप्ति के पथ की क्रमागत सीढ़ियाँ हैं तथा ये सभी धारणाएँ सत्य हैं। इन सोपानों का आरोहण करने के उपरान्त ही निर्गुण निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।

दक्षिणेश्वर में कालीप्रसाद नरेन्द्रनाथ से भी परिचित हुए जो कालान्तर में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द बने। थोड़े ही दिनों में उन दोनों का परिचय घनिष्ट मैत्री में बदल गया। वे प्रायः पंचवटी के नीचे शास्त्र-चर्चा करते देखे जाते थे। कालान्तर में जब श्रीरामकृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित होकर स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे तब कालीप्रसाद भी अन्य गुरु-भाइयों के साथ उनकी सेवा में प्राण-प्रण से जुट गये। युगावतार के लीला-संवरण के उपरान्त उन्होंने सन्यास ग्रहण किया और तभी से उन्हें स्वामी अभेदा-

नन्द का नाम प्राप्त हुआ। वे श्रीरामकृष्णदेव के अन्य भक्तों के साथ बराहनगर मठ में निवास करने चले आये। बराहनगर मठ में उनका जीवन अत्यन्त तितिक्षापूर्ण और तपस्यामय था। वे एकान्त में आध्यात्मिक साधनाओं और शास्त्रों के अध्ययन में लीन रहा करते थे। उनकी तीव्र निष्ठा को देखकर उनके गुरुभाई उन्हें 'काली तपस्वी' और 'काली वेदान्ती' कहा करते थे। स्वामी अभेदानन्द की सर्जनात्मक मेधा भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव और श्री माँ शारदा की संस्कृत में श्लोकबद्ध स्तुति रची थी। श्री माँ उसे सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई तथा उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, 'बेटा! सरस्वती सदैव तुम्हारे कण्ठ में निवास करें।" श्री माँ का यह आशीर्वाद स्वामी अभेदानन्द के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुआ था।

स्वामी अभेदानन्द के मन में मुक्त सन्यासी का-सा जीवन बिताने की इच्छा हुई। वे पर्यटन और भ्रमण के लिए पैदल निकल पड़े। इस लम्बी अवधि में उन्होंने गंगोत्री, यमुनोत्री, केदारनाथ, बदरीनारायण, हरिद्वार, पुरी, द्वारका, रामेश्वरम् का भ्रमण किया और अनेक महान सन्यासियों से भेंट की। हृषीकेश में वे स्वामी धनराजपुरी से मिले और उनके पास रहकर वेदान्त का अध्ययन किया। इस समय तक श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों का उद्देश्य आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा आत्मकल्याण की सिद्धि थी। उधर अमेरिका में स्वामी

विवेकानन्द वेदान्त की ध्वजा फहरा रहे थे। स्वामी विवेकानन्द अपने पत्रों में अपने गुरुभाइयों को नव-जागरण की अपनी योजना से परिचित करा रहे थे। उनकी इच्छा थी कि भारत में संन्यासियों के एक ऐसे मठ की स्थापना की जाये जो लोक-सेवा के साथ श्रीराम-कृष्णदेव के सन्देश का प्रचार करे। स्वामी विवेकानन्दजी के अनुरोध से स्वामी अभेदानन्द अन्य गुरुभाइयों के साथ वराहनगर मठ में लौट आये।

लन्दन में वेदान्त-प्रचार के कार्य को व्यापक बनाने की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी अभेदानन्द को वहाँ आमन्त्रित किया। उन्होंने लन्दनवासियों को बताया था कि शीघ्र ही उनके एक गुरुभाई वहां पहुँचने वाले हैं। स्वामी अभेदानन्द के आने के पहले ही स्वामी जी ने लन्दन की क्रिस्टो थियोसॉफिकल सोसायटी में 'अद्वैत वेदान्त' पर उनके व्याख्यान का आयोजन कर दिया था। स्वामी अभेदानन्द को इस विषय में कोई पूर्व-सूचना नहीं थी। लन्दन पहुँच कर जब उन्होंने अपना नाम वहाँ की पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा तो वे बड़े विस्मित हुए। इसके पहले उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में व्याख्यान नहीं दिया था। इसलिये उन्हें पहले बड़ा संकोच हुआ। किन्तु स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें उत्साहित करते हुए कहा, "भाई! उनपर भरोसा रखो जिन्होंने जीवन के प्रत्येक पल में मुझे शक्ति और साहस प्रदान किया है।" इससे उनका साहस बँधा और

निश्चित समय पर वे क्रिस्टो थियोसॉफिकल सोसाइटी में व्याख्यान देने के लिए पहुँचे। सारा हाल श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। उनका व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। उनका भव्य व्यक्तित्व और उनकी ओजस्वी वाणी से श्रोतागण मन्त्रमुग्ध से रह गये। उनका भाषण आशातीत रूप से सफल रहा। स्वामी विवेकानन्द इससे अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, "यदि यहाँ पर मेरा अभी ही देहावसान हो जाये तो मेरा सन्देश अभेदानन्द के इन मधुर होठों से उच्चरित होगा और सारा संसार उसका मान करेगा।" स्वामीजी के शिष्य कैप्टन सेवियर ने कहा, "स्वामी अभेदानन्द जन्मजात प्रचारक हैं। वे जहाँ भी जायेंगे, उन्हें विजय प्राप्त होगा।"

स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि उनकी अनुपस्थिति में स्वामी अभेदानन्द वेदान्त-प्रचार का कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित कर लेंगे इसलिये वे उन्हें राजयोग और वेदान्त की कक्षा लेने का भार सौंपकर सन् १८९६ के दिसम्बर महीने में भारत लौट आये। स्वामी अभेदानन्द लगभग १ वर्ष तक गिरिजाघरों, दार्शनिक और धार्मिक संस्थाओं द्वारा आयोजित सभाओं में भाषण देते रहे। लन्दन-प्रवास के दिनों में उनकी भेंट मैक्समूलर और प्रोफेसर पॉल डायसन से हुई। लन्दन निवासी उनकी वक्तृता, वेदान्त-दर्शन की सूक्ष्म पकड़ और आध्यात्मिक गम्भीरता से अतिशय प्रभावित थे। स्वामी अभेदानन्द के अथक प्रयत्नो से आंग्ल जनता के

मन में भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

स्वामी विवेकानन्द के अनुरोध पर स्वामी अभेदानन्द न्यूयार्क की पूर्व स्थापित वेदान्त सोसायटी के संचालन के लिए अमेरिका पहुँचे। प्रारम्भ में इस सोसायटी की आर्थिक दशा अतिशय शोचनीय थी। किन्तु स्वामी अभेदानन्द ने शीघ्र ही इन विपत्तियों का निराकरण किया और वेदान्त-प्रचार के कार्य को एक नयी तीव्रता दी। वे शीघ्र ही अमेरिका की विद्वन्मंडली में लोकप्रिय हो गये। इससे ईसाई पादरियों को बड़ी ईर्ष्या हुई और वे उन्हें बदनाम करने की कुचेष्टा करने लगे। किन्तु स्वामी अभेदानन्द पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे बड़े उत्साह के साथ अपने कार्य में लगे रहे। कुछ ही समय में वे अमेरिका में हिन्दू-धर्म और दर्शन के महान आख्याता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। महती सभाओं और गोष्ठियों में उनके व्याख्यान के आयोजन किये जाने लगे। वे महान मेधासम्पन्न, असाधारण वक्ता और दिव्य व्यक्तित्ववान थे। मॉट मेमोरियल हॉल में उन्होंने ९० व्याख्यान प्रदान किये थे। अमेरिका का बौद्धिक वर्ग अभेदानन्दजी से अतिशय प्रभावित था। सन् १८९८ में उन्होंने प्रख्यात अमरीकी दार्शनिक विलियम जेम्स से चरमसत्ता की एकता पर लगभग ४ घंटों तक चर्चा की थी। इस चर्चा में प्रोफेसर रॉयस, प्रोफेसर लेनमैन, प्रोफेसर शेलर और डा० जेन्स भी

उपस्थित थे। अन्त में विलियम जेम्स ने यह स्वीकार किया कि यद्यपि उनका विश्वास अभी भी चरमसत्ता की एकता पर नहीं जम पाया है फिर भी स्वामीजी की दृष्टि से उसे अस्वीकार करना असम्भव है।

X स्वामी अभेदानन्द अपने व्याख्यानों में विचारों की पवित्रता और मानवीय स्नेह पर बड़ा बल दिया करते थे। उन्होंने कहा था, हम ईश्वर पर विश्वास करें या न करें, हम पैगम्बरों पर श्रद्धा करें या न करें, पर यदि हममें आत्मसंयम, एकाग्रता और सर्वभूतों के प्रति प्रेम का भाव है तो हम वास्तव में आध्यात्मिक पूर्णता के पथ पर बढ़ते हैं। इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति ईश्वर और धर्म में विश्वास तो करता है पर इन गुणों से हीन है तो वह मात्र संसारी व्यक्ति होता है, आध्यात्मिक नहीं। उसका विश्वास केवल शाब्दिक होता है।" वे कहा करते थे कि भारतीय वेदान्त में जिस धर्म और दर्शन का वर्णन है वह केवल बौद्धिक धारणाओं से पूरित नहीं है। वेदान्त की भित्ति चरम-सत्ता के शोध और उसकी प्राप्ति हेतु सुदीर्घ अभ्यास पर टिकी हुई है। इसी चरमसत्य को लोगों ने ईश्वर, स्रष्टा, निर्माता, आदि कारण, पिता, जेहोवा, अल्ला, या ब्रह्म आदि नामों से संबोधित किया है। उन्होंने बताया कि "यदि हम चरमसत्य को जानना चाहते हैं तो हमें प्रकृति के परे जाकर अलौकिक के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। नानारूपात्मक प्रकृति हमें छलती है

और हमें संदेहों में उलझा देती है। भौतिक सामग्रियों के परीक्षण के उपरान्त वैज्ञानिक भी इसी निष्कर्षहीन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। विज्ञान की अधुनातन निष्पत्ति यह है कि सभी का चरम उद्देश्य अज्ञात और अज्ञेय है। यहाँ पर वेदान्त हमारी सहायता करता है। वह प्रकृति की अपेक्षा आत्मा के अनुशीलन पर बल देता है। आत्मा प्रकृति, नाम और रूप तथा बहुलता के परे है। जब हम वेदान्तवर्णित निरपेक्ष सत्य की अनुभूति करेंगे तब हमारे सभी संदेह मिट जायेंगे।" स्वामी अभेदानन्द ने वैज्ञानिक ज्ञान की भूमिका पर वेदान्त की प्रभावपूर्ण व्याख्या की थी तथा कान्ट, हक्सले, टिंडल और स्पेंसर के विचारों के वेदान्तीय सूत्रों को स्पष्ट किया था।

(अपने अमेरिका-प्रवास के दिनों में स्वामी अभेदानन्द ने मैक्सिको और अलास्का का भ्रमण भी किया था और उन्होंने अनेक बार यूरोपीय देशों की यात्रा भी की थी। उन्होंने अमेरिका के सभी प्रमुख शहरों में वेदान्त-दर्शन पर व्याख्यान दिये थे। उनमें विलक्षण संगठन क्षमता थी और उनके संकल्प एवं निर्णय की शक्ति बड़ी प्रखर थी। अपने इन्हीं गुणों के द्वारा उन्होंने अमरीकी जनता का हृदय जीता था। यद्यपि उन्होंने वेदान्त के व्यापक प्रचार के लिये अथक श्रम किया था पर मूलतः वे आत्मलीन महापुरुष थे। इसलिये उनका व्यक्तित्व धीर-गम्भीर सागर की भाँति सदैव प्रशान्त

बना रहता था। स्वामी विवेकानन्दजी ने अमेरिका की भूमि में वेदान्त का जो बीजारोपण किया था वह स्वामी अभेदानन्द के प्राण-वारि से सिंचित होकर विशाल वटवृक्ष में परिवर्तित हो गया और उसकी जड़ें राष्ट्र के हृदय में अत्यन्त गहराई में बैठ गईं। अभेदानन्दजी लगभग २५ सुदीर्घ वर्षों तक विदेशों में वेदान्त-धर्म का प्रचार करते रहे।)

हृदयग्राही वक्तृत्व-शक्ति के साथ ही स्वामी अभेदानन्द उच्चकोटि की लेखनक्षमता से भी सम्पन्न थे। उनके विचारों ने जहाँ वाणी के रूप में सैकड़ों लोगों को प्रभावित किया था वहाँ उनकी पुस्तकों ने हजारों लोगों को आलोक प्रदान किया है। अपने अनेकानेक ग्रन्थों में उन्होंने वेदान्त जैसे गहन-गम्भीर दर्शन का सुन्दर और सुबोध शैली में समझाया है। भारतीय आध्यात्मिक सम्पदा के प्रसार में इन ग्रन्थों का विशेष योगदान रहा है। स्वामी अभेदानन्द सन् १९२१ में अमेरिका में वेदान्त-प्रचार के कार्य को दिशा प्रदान कर भारत की ओर लौटे। रास्ते में उन्होंने जापान, चीन, फिलिपाइन द्वीप-समूह, सिंगापुर और रंगून इत्यादि स्थानों में श्रीराम-कृष्णदेव के संदेश का प्रचार किया। यद्यपि उनकी उम्र ५५ वर्ष की हो चुकी थी पर उनका कार्योत्साह निरन्तर बढ़ता जा रहा था। भारत में उन्होंने तिब्बत, काबुल, पेशावर और पंजाब की भी व्यापक यात्रा की और सन् १९२३ के मार्च महीने में बेलुड़ मठ पहुँचे।

अपनी योजना के अनरूप वेदान्त-प्रचार के कार्य का संचालन करने के लिये स्वामी अभेदानन्द ने कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण वेदान्त मठं' की स्थापना की और इसी भावधारा से अनुप्राणित 'विश्ववाणी' नामक बँगला पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। अब उनका सम्पूर्ण ध्यान आध्यात्मिक भाव-प्रसार की ओर केन्द्रित हो गया। अत्यधिक परिश्रम के कारण स्वामी अभेदानन्द का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था। सन् १९३७ में भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष में कलकत्ते के टाउनहॉल में 'सर्व-धर्म परिषद्, का आयोजन किया गया था। शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद भी अभेदानन्दजी ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, "श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन के माध्यम से यह संदेश दिया था कि सांसारिक सम्बन्धों से रहित होकर निष्ठावान व्यक्ति ईश्वरीय चेतना में प्रतिष्ठित हो सकता है। सबसे पहले उन्होंने ही यह घोषणा की कि विविध धर्म एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख विविध पथों के समान हैं। ईसाई, इस्लाम, यहूदी, पारसी और हिन्दू धर्म समान रूप से एक ही परमात्मा की प्राप्ति को अपना उद्देश्य मानते हैं। श्रीरामकृष्ण का प्रमुख संदेश इस महान सत्य को उद्घोषित करता है कि ईश्वर एक है परन्तु उसके अनेक रूप हैं। विभिन्न देशों में एक ही ईश्वर को अनेक नाम और रूपों में भजा जाता है। ईश्वर साकार भी है और निराकार भी, और वह

इन दोनों से परे भी है। मैं आशा करता हूँ कि यह सर्व-धर्म-सम्मेलन समस्त साम्प्रदायिक संघर्षों और मतभेदों का मूलोच्छेदन करेगा और सर्व-धर्म-समभाव के प्रसार के लिये अनकूल वातावरण का निर्माण करेगा।"

स्वामी अभेदानन्द का यही अन्तिम सार्वजनिक उदगार था। इससे हमें उनके महान व्यक्तित्व की यत्किंचित् झलक मिलती है। ८ सितम्बर सन् १९३९ को उन्होंने अपनी पार्थिव देह का परित्याग कर दिया। स्वामी अभेदानन्द भारत के महत्तर सांस्कृतिक दूतों में से एक थे। उनका जीवन आध्यात्मिकता और सेवाभाव का ज्वलन्त विग्रह था। श्रीरामकृष्णदेव अपने शिष्यों में इन्हीं दो महाभावों को समन्वित करना चाहते थे। उन्हीं के संदेशों को अपने जीवन और कार्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने के लिये स्वामी अभेदानन्द का अवतरण हुआ था।

जयतु रामकृष्ण

कवि "विलक्षण" अम्बिकापुर

(१)

इच्छामात्र से ही तुम मन को निर्विकल्प कर,
अन्तर में विमल-ज्ञान-ज्योति भरते रहे।
ठाकुर, तुम कितने कृपालु करुणाकर थे,
पीड़ा-व्यथा सबकी सहर्ष हरते रहे।
लोक कल्याण हेतु आये प्रभु रामकृष्ण,
स्वयं अमर-वाक्य अहोरात्र कहते रहे।
हमको भी युक्ति वह बतला दो, हे ठाकुर!
माता से कैसे तुम बात करते रहे॥

(२)

रानी रासमणि को भवानी ने बताया था,
"मुझे स्थापित कर अगर भक्ति वाली है।
जा मत बनारस तू मन्दिर बना दे यहीं,
धन का यदि सदुपयोग तू करने वाली है।
क्या न थी तुम्हारी यह लीला हे रामकृष्ण!
हँसती सी खड़ी हुई आज वहीं काली है।
आयी थी तुम्हारे लिये माता दक्षिणेश्वर में,
लीलामय! तुम्हारी यह लीला ही निराली है॥

(३)

दुनिया में ईश्वर है, पर किसने देखा है?
शंका उठी मन में, न पाया समाधान को।

आया दक्षिणेश्वर में तुम्हारे ही तो पास तब,
तर्कप्रिय नरेन्द्र लिये प्रश्न-व्यवधान को।
बोले थे तुम ठाकुर! अधरों पर हास्य लिये,
बालक न तानता ज्यों तर्क के बितान को।
"सुन रे नरेन्द्र, अभी जैसे तुझे देख रहा,
वैसे ही देखता हूँ नित्य भगवान को।"

(४)

ईश्वर औ' जीव बीच माया का पर्दा है,
करता उत्पन्न मोह, शोक, अभिमान को।
ईश्वर है सत्य, वही जागृत बनाता सदा,
सरल-सुबुद्धि को, विवेक-सद्ज्ञान को।
उसकी अधीश्वरी है स्वयं जगन्माता यह,
तुम्हीं ने बताया इस शक्ति के विधान को।
सत्य यह तथ्य, महामाया की कृपा बिना,
देख नहीं पाता यह जीव भगवान को॥

(५)

लेकर खजाना रिद्धि-सिद्धि सब कीर्तियों का,
स्वयं जगदम्बा जब तुम्हारे पास आई थी।
तुमने कहा. "नहीं माता, मुझे नहीं चाहिए यह,"
सुनकर जगदम्बा मन्द-मन्द मुसकाई थी।
तुमने कहा, "माता, मुझे चाहिये तुम्हारी भक्ति,"
हँसकर जगदम्बा कृपा-कोर को उठाई थी।
अपना ही वासस्थल तुम्हें मान बैठी माँ,
जयतु रामकृष्ण! माता तुम्हींमें समायी थी॥

क्रमशः

छात्र-असन्तोष

स्वामी आत्मानन्द

(रविशंकर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित परिसंवाद में व्यक्त किये गये बिचार)

रविशंकर बिश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना के प्रति साधुवाद, जिन्होंने 'छात्र-असन्तोष' जैसे सामयिक विषय पर परिसंवाद का आयोजन किया है और इसमें छात्रों के भी प्रतिनिधियों के लिए स्थान रखा है। विगत कुछ महीनों के भीतर छात्रों का यह असन्तोष दावानल के समान सारे देश में फैल गया है और एक महती समस्या के रूप में आज राष्ट्र को आक्रान्त कर रहा है। जो समुदाय देश की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक है, जिसे आगे बढ़कर राष्ट्र का नेतृत्व अपने कन्धों पर लेना है, जिसकी भुजाओं के बल पर मातृभूमि की आन टिकी हुई है और जिसके शुभ संकल्प से जागरण का स्वर्णिम विहान होना है, वही आज अपने आपको बेकल, बेचैन, हताशा से ग्रस्त, दिशाहीन और निस्तेज पा रहा है। यही वह विद्यार्थी-वर्ग है जिसकी खोज छात्र-असन्तोष के रूप में प्रकट होती है।

आखिर इस खीज का क्या कारण है ? असन्तोष ता एक कार्य है, परिणाम है। यदि कारण को ढूँढ़ा जा सका तो उसका निवारण सुगम हो जायगा। अभी कई वक्ताओं ने, जिनमें छात्रों के भी प्रतिनिधि शामिल थे, इस असन्तोष के कारणों पर प्रकाश डाला है। कतिपय

कारण इस प्रकार बताये गये हैं:—शिक्षा-पद्धति का अव्यावहारिक होना; परीक्षा-पद्धति में दोष; आज की कमर तोड़ने वाली महँगाई जिसके कारण माता-पिता सन्तानों की उचित माँगों को पूरा नहीं कर पाते; शिक्षा-संस्थाओं में सौहार्द का अभाव, उनका केवल व्यावसायिक संस्थानों के रूप में कार्य करना; विद्यार्थियों के हितों की उपेक्षा; डिग्रियाँ ले लेने पर भी बिना रोजगार के बैठे रहना; भविष्य धूमिल और अन्धकारमय दिखना; बाहर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में तथाकथित नेताओं के आपसी झगड़े; जिनके हाथ में सत्ता है उनकी पद-लोलुपता और लूट-खसोट; स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनुचित तरीकों का अपनाना; सर्वत्र भ्रष्टाचार, पक्षपात और भाई-भतीजेवाद का बोलबाला; नैतिकता, चरित्र और योग्यता की बलि; देश की भयंकर आर्थिक असमानता।

ये कुछ प्रमुख कारण हैं जिनसे छात्रों में असन्तोष की ज्वाला भड़क रही है। हम इन कारणों पर थोड़ा विचार करें। एक प्रश्न उठता है कि क्या ये कारण पहले विद्यमान नहीं थे? यदि ये पहले भी थे तो छात्र-असन्तोष इस उग्ररूप में पहले क्यों नहीं था? उत्तर में यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये कारण पहले भी विद्यमान थे। पर आजादी के बाद इन कतिपय वर्षों में उपर्युक्त समस्याएँ सुलझाने के बदले और भी जटिल हुई हैं। छात्रों में जोश है, उत्साह है। उचित मार्गदर्शन

से उनका यह उत्साह राष्ट्र के उत्थान के लिए सर्जनात्मक शक्ति के रूप में प्रकट हो सकता है। उसके अभाव में उनका जोश विध्वंसात्मक रूप धारण करता है और आज यही हो भी तो रहा है।

आजादी के पहले हमारे सामने केवल एक ही लक्ष्य था—अंग्रेजों को भारत से हटाना और देश के संचालन का सारा भार अपने कन्धों पर लेना। हमने असहयोग आन्दोलन किया; छात्र-समुदाय महात्मा गाँधी के आह्वान पर पढ़ाई छोड़कर राष्ट्र की सेवा के लिये आगे आया और उसने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। यह उचित मार्ग दर्शन था जिसने छात्रों की रचनात्मक शक्ति को प्रकट किया। उसके बाद हमें आजादी मिली। देश सेवक सत्ता-सेवक होने लगा और जो कल तक मातृभूमि के लिए जीवन का होम करने को प्रस्तुत था, वह धीरे-धीरे सत्ता के नये नशे में मदहोश होने लगा। क्षुद्र स्वार्थ के लिए पैतरेबाजी होने लगी। सत्ता देशवासियों के हाथ में आयी इसलिए विदेशी शासन का भय लोगों के मन से दूर हुआ और ऐसा लगा कि अब तो हमीं देश के शासक हैं। वोट बेचे और खरीदे जाने लगे। जनतंत्र का सुघड़ पक्ष दब गया और उसके बहाने जातिवाद, भाई-भतीजाबाद एवं अन्य ऐसे बहुतेरे संकीर्णवाद देश की माटी को फोड़कर ऊपर उठे। दलबन्दियाँ हुईं, परस्पर घोर संघर्ष शुरू हुआ, सत्ता हड़पने के लिए खींचतान होने लगी। देश के नेताओंने जो आदर्श पहले दिया था,

उन आदर्शों को उन्होंने खत्म कर दिया। अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा के क्षेत्र में भी दल बने—उपकुलपति का दल, उनके विरोधियों का दल, विभाग-विशेष के अध्यक्ष का दल, रीडर का दल; प्राचार्यों, असिस्टैंट प्रोफेसरों और व्याख्याताओं के अलग-अलग दल और इन सब दलों ने एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए छात्र-समुदाय को अपनी-अपनी ओर बटोरा। छात्र-असन्तोष रूपी विष की उपज इसी मन्थन का परिणाम है।

इस असन्तोष का रूप कैसा है? सब पर हावी हो जाना, यहाँ तक की अपने जन्म देने वाले पर भी। उदाहरण—कुछ शिक्षकों ने विद्यार्थियों को उपकुलपति के विरुद्ध उकसाया, विद्यार्थियों के प्रति सस्ती सहानुभूति प्रकट की, और दौड़ पड़े छात्र उपकुलपति को घेरने, मार पीट करने। चपरासी ने या अन्य शिक्षकों ने रोका तो पत्थर बरसाये; जो सामने दिखा उसे तोड़-फोड़ डाला। उस बदहोशी की हालत में तनिक-सी रुकावट उत्तेजना को भड़काने वाली ही सिद्ध हुई। जिन शिक्षकों ने उकसाया था वे भी अब उन्हें रोक न सके।

एक कथा स्मरण आती है। किसी को एक बड़े अपराध में पकड़ा गया। वकील ने अपराधी से कहा कि जज महोदय तुमसे जो कुछ पूछें, सबके उत्तर में 'भें' कह देना। अपराधी ने वही किया। जज ने बहुतेरे प्रश्न पूछे, पर सबका उत्तर उसने केवल 'भें' दिया। जज

खीजकर बोला कि यह तो पागल है, यह ऐसा अपराध नहीं कर सकता और ऐसा कहकर उसने अपराधी को छोड़ दिया। जब वकील अपनी सफलता पर प्रसन्न होता हुआ अपराधी के पास अपनी फीस लेने आया तो उसे भी अपराधी ने 'भें' कर दिया!

आज क्या यही बात नहीं है? छात्र समुदाय सभी को 'भें' कर रहा है और सभी बातों में 'भें' कर रहा है। परीक्षा-प्रश्न कठिन आ गये तो कुर्सियाँ ही तोड़ डालीं, विश्वविद्यालय की सम्पति जला डाली। इच्छानुसार परीक्षाफल नहीं निकला तो धावा बोल दिया। ट्राम या बस में बिना टिकट के सफर नहीं करने दिया तो ट्राम बसों की होली जला दी। परीक्षा में नकल करते हुए किसी ने पकड़ लिया तो उसके सीने पर चाकू भोंक दिया। ये अब रोजमर्रा की घटनाएँ हो गई हैं। बीते दिन जब दिल्ली में छात्रों का जुलूस निकला और पुलिस ने छात्र-नेताओं को पकड़ कर पूछा कि तुम लोग ऐसा क्यों करते हो, तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी माँगे पूरी की जायँ। प्रश्न किया गया कि तुम्हारी माँगे क्या हैं? तो उत्तर दिया कि हमारे कालेज के असेम्बली हॉल को वातानुकूलित बनाया जाय तथा छात्रावास के रसोई घर में रेफ्रीजरेटर रखे जायँ। यह उस असन्तोष का रूप है-विचित्र और साथ ही भयंकर! क्या यह असन्तोष दूर हो सकता है? सरकार यदि सोचें कि लाठियाँ और गोलियाँ चलाकर वह इस समस्या पर काबू पा लेगी तो

वह अंधेरे में है। इससे भले ही फोड़ा ऊपर से बैठा हुआ-सा दिखे, पर वह थोड़े ही समय बाद पुनः विकराल रूप में उभर आयेगा।

लोग कहते हैं कि शिक्षा-पद्धति ठीक करो, मँहगाई दूर करो, आर्थिक असमानता नष्ट करो, परीक्षा की प्रणालियाँ बदलो, तो यह असन्तोष दूर हो सकता है। बात ठीक तो है, पर मैं एक प्रश्न पूछूँ—क्या आप यह सब एकदम से कर सकते हैं? हमारे पास कोई जादू की छड़ी तो है नहीं कि घुलाते ही बस ये समस्याएँ हल हो जायें। हम जानते हैं कि अभी शिक्षा-पद्धति नहीं बदलेगी, मँहगाई भी वैसी ही रहेगी; आर्थिक वैषम्य भी बना रहेगा; परीक्षा की प्रणालियाँ भी पूर्ववत् रहेंगी। तब हम आज क्या करें? मैं कुछ विचार आपके सामने रखता हूँः—

(१) यदि हम छात्रों द्वारा की गई गड़बड़ियों का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि इनमें सक्रिय रूपसे भाग लेने वाले छात्रों का प्रतिशत एक से कभी अधिक नहीं होता। यानी, यदि किसी शिक्षा-संस्था में एक हजार विद्यार्थी हैं, तो गड़बड़ करने वाले नेता लड़के दस से अधिक न होंगे। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से कह दूँ कि छात्राएँ कोई विशेष समस्या पैदा नहीं करतीं। सारी समस्याओं की जड़ में केवल छात्र ही हैं, और वह भी मात्र एक प्रतिशत छात्र। शिक्षक निःसन्दिग्ध रूप से जान लेते हैं कि गड़बड़ करने वाले लड़के कौन-कौन हैं। ऐसे लड़कों पर विशेष निगरानी रखी जाय।

(२) छात्र-असन्तोष के अवांछनीय उभाड़ को रोकने में पालक महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं। विद्यार्थी, पालक और शिक्षक ये तीनों मिलकर एक त्रिभुज का निर्माण करें, अर्थात् तीनों आपस में सहयोग करें। शिक्षक विद्यार्थी की समस्या को पालक के सामने रखे। पालक अपने पालित के गलत काम के लिये तनिक भी संरक्षण न दे, बल्कि उसकी भर्त्सना करे। यदि पालित न माने तो उसे घर में न घुसने दे।

(३) प्रत्येक शिक्षण-संस्था में छात्रों का एक अध्ययन वर्ग हो जिसके माध्यम से वे अपनी समस्याओं पर चर्चा कर सकें। संस्था के एक अनुभवी शिक्षक उस वर्ग के अध्यक्ष रहें। वे सामयिक समस्याओं को छात्रों के सामने उपस्थित करें और इस प्रकार छात्रों के विचारों को प्रकट होने का अवसर प्रदान करें। इससे छात्रों का बौद्धिक स्तर ऊपर उठेगा और वे किसी भी प्रश्न पर गम्भीरता से सोचने का उपक्रम करेंगे। गाम्भीर्य का अभाव हम लोगों का सर्वनाश कर रहा है। यही अभाव भीड़ में चलने की प्रवृति पैदा करता है और विवेक पर ताला जड़ देता है। आज छात्र-समाज इस रोग से विशेषरूपेण ग्रसित है।

(४) कालेज में विद्यार्थियों की भीड़ रोकी जाय। इसके लिये स्कूल की शिक्षा ऐसी हो कि उसके बाद लड़के व्यावसायिक उद्योग-धन्धों की ओर जा सकें। वाणिज्य की शिक्षा उद्योग-धन्धे के अन्तर्गत की

जाय। कला और विज्ञान की शिक्षा में छात्रों को प्रवेश देने के लिए कुछ निम्नतम योग्यताएँ निर्धारित की जायँ। उदाहरणार्थ, स्कूल से न्यूनतम ५०% गुणांक प्राप्त करके उत्तीर्ण होनेवाला विद्यार्थी ही कालेजों में प्रवेश पा सकेगा। चिकित्सा और शिल्प के क्षेत्रों में ऐसी सीमाएँ बाँधी ही गयी हैं।

(५) इस प्रकार कालेज में विद्यार्थियों की भीड़ को रोकने से शिक्षक छात्रों पर अधिक ध्यान दे सकेगा। कला-विभाग में एक शिक्षक के अन्तर्गत २५ से अधिक विद्यार्थी न हों और विज्ञान-विभाग में केवल २०। इससे अपने आप शिक्षा का स्तर बढ़ेगा। शिक्षक विद्यार्थी के अधिक नजदीक आयेगा। दोनों एक दूसरे को समीप से देखेंगे और परखेंगे। विद्यार्थी की श्रद्धा शिक्षक पर बढ़ेगी।

क्या सरकार भी इस मसले के हल में सहायता दे सकती है? हाँ, दे सकती है। वह भ्रष्टाचार और पक्ष-पात को कड़ाई से समूल नष्ट करने की पहल करे। जो भी व्यक्ति अनशन करके या अन्य किसी तरीके से जातीयता अथवा प्रान्तीयता को उभाड़ना चाहता हो, सरकार उसका कठोरता के साथ दमन करे। छात्रों को अपने राजनैतिक स्वार्थ के लिए उकसाने वाले व्यक्ति या व्यक्ति समूह को कड़ा दण्ड दे। विश्वविद्यालयों और शिक्षा-संस्थाओं को राजनीति का अखाड़ा न बनने दे। ऐसी योजना बनायी जाय जिससे ये संस्थाएँ केवल

डिग्रियाँ प्राप्त करने की परीक्षाओं के लिये विद्यार्थियों को तैयार न करें बल्कि राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के लिए बलशाली केन्द्र बन जायें।

सरकार दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह कर सकती है कि शिक्षा के प्रारम्भ से वह विद्यार्थियों के चरित्र-विकास के लिए नैतिक और धार्मिक शिक्षा का प्रावधान करे। यह इसलिए कह रहा हूँ कि यूरोप, इंग्लैण्ड आदि देशोंमें भी इस प्रकार की शिक्षा की मान्यता जड़ पकड़ रही है। स्वीडन एक उदाहरण है। 'रीडर्स डाइजेस्ट' में पढ़ा था कि स्वीडन सभी प्रकार से सम्पन्न देश है। उस पर प्रकृति का भरपूर बरदान है। वहाँ भुखमरी नहीं है, वेरोजगारी की समस्या नहीं है, शिक्षा पद्धति भी दोषपूर्ण नहीं है। ऐसे सभी प्रकार से खुशहाल देश को एक प्रचण्ड सिरदर्द है और वह है वहाँ के छात्र-छात्राओं की समस्या। अकारण ही छात्र-छात्राओं का दल किसी 'कार' को रोककर कार-वाले को लूट लेता है; पोस्ट-आफिस को लूटकर सामान बिखेर देता है; किसी दुकान में घुसकर उसे चौपट कर देता है; मेले आदि के स्थानों पर ऐसी नग्नता से पेश आता है कि लोग आँखें मूँद लेते हैं। प्रश्न यह है कि यह सब क्यों होता है, जब स्वीडन में कोई अभाव नहीं, कोई समस्या नहीं। वहाँ के चिन्तकों ने यह उपाय सुझाया है कि बचपन से ही बिद्यार्थियों को किसी प्रकार की नैतिक और धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिये, जिससे आगे चलकर

उनमें उच्छृङ्खलता न पनपे, वे शान्त और धीर बनें तथा गम्भीर होकर किसी बात का विचार कर सकें।

हमारी सरकार को इससे सीख लेनी चाहिये। हमारे यहाँ पहले नैतिक और धार्मिक शिक्षा पर बड़ा जोर दिया जाता था। पर धर्मनिरपेक्षता की गलत धारणा ने इन बीस वर्षों में देश की जड़ों पर जमकर कुठाराघात किया है। हमें सही अर्थों में धर्मनिरपेक्षता को समझना है और कार्यान्वित करना है। सरकार इसमें बहुत कुछ कर सकती है अभी कुछ ही समय पहले कोठारी शिक्षा आयोग ने शिक्षा के सन्दर्भ में कुछ महत्व-पूर्ण तथ्यों पर विशेष प्रकाश डाला है। उसमें नैतिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया है।

सरकार तीसरा महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है— वह बाहर से आनेवाली घिनौनी, मनुष्य के पाशविक भावों को उभाड़नेवाली तथा स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन करनेवाली फिल्मों को पूरी तरह बन्द कर दे। साथ ही, वह सेन्सर बोर्ड को अधिक सख्त बनाये। ललितकला के नाम पर कुण्ठाग्रस्त भावनाओं का प्रदर्शन न होने दे। चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए मनुष्य का अनमोल चरित्र दाँव पर न रखा जाय। आज स्थिति कुछ ऐसी ही है। भारत में भी आज ऐसी फिल्मों का निर्माण हो रहा है जो भोड़ी और चरित्रनाशक हैं, अराजकता और उच्छृङ्खलता फैलानेवाली हैं। फिल्मों से अमृत और गरल दोनों प्राप्त किये जा सकते हैं। फिल्म राष्ट्रीय

चरित्र को उन्नत बनाने का सशक्त माध्यम हो सकती है। पर खेद है, आज हमारे पल्ले गरल ही अधिक है। यदि सरकार चाहे तो वह फिल्मों के इस विष-वमन को रोक सकती है। इससे धीरे-धीरे लोगों का चरित्र संभलेगा। विशेषकर छात्रों में निरर्थक उत्तेजना क्रमशः कम होगी। यदि फिल्मों से पैदा होनेवाले जहर को रोका जा सका, तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि ५०% छात्र-असन्तोष यों ही दूर हो जायेगा।

अन्त में कहूँगा, छात्र-असन्तोष सर्वत्र दिखाई पड़नेवाले जनसाधारण के असन्तोष की ही एक परछाईं है। यदि हम सामाजिक और आर्थिक स्तर पर समस्याओं के उन्मूलन की दिशा में सफल प्रयत्न कर सके, तो उज्ज्वल भविष्य की कुछ आशा है, अन्यथा अन्धकार और निविड़ हो जायगा।

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा।।

—आग से जलते हुए एक ही सूखे बृक्ष से समस्त वन इस प्रकार जल जाता है जैसे एक ही कुपुत्र से सम्पूर्ण कुल।

देवर्षि नारद

स्वामी व्योमानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥[1]

स्वयं देवर्षि नारद अपने श्रीमुख से कहते हैं—'भगवान् की दी हुई इस स्वरब्रह्म से विभूषित वीणा पर तान छेड़कर मैं उनकी लीलाओं का गान करता हुआ सारे संसार में विचरता हूँ।'

भगवान् श्रीरामकृष्ण गृहस्थ भक्तों को तथा साधारण नर-नारियों को प्रायः नारद द्वारा प्रचारित भक्ति का उपदेश देते थे। वे कहते थे, "कलियुग में केवल नारदीय भक्ति ही श्रेष्ठ है। ······समाधिस्थ होने के बाद प्रायः शरीर नहीं रहता। किन्तु किसी-किसी का शरीर लोक-शिक्षण के लिये रह जाता है—जैसे नारद आदि का। कुआँ खुद जाने पर कोई-कोई झौआ-कुदार फेंक देते हैं। कोई-कोई रख लेते हैं—सोचते हैं, शायद पड़ोस में किसी दूसरे को जरूरत पड़े। इसी प्रकार महापुरुषगण जीवों का दुःख देखकर विकल हो जाते हैं। ए स्वार्थ पर नहीं होते कि अपने ही ज्ञान से मतलब रखें। ······परन्तु शक्ति की विशेषता होती है। छोटा आधार (साधारण मनुष्य) लोक-शिक्षा देते डरता है। सड़ी लकड़ी खुद तो किसी तरह बह जाती है, परन्तु एक चिड़िया के

---

१. श्रीमद्भागवत १।६।३३

बैठने से भी वह डूब जाती है। नारद आदि ठोस लकड़ी के लट्ठे हैं। ऐसी लकड़ी खुद भी बहती है और कितने ही मनुष्यों, मवेशियों, यहाँ तक कि हाथी को भी अपने ऊपर लेकर बह जाती है। ·······नारद हैं देवर्षि, शुकदेव हैं ब्रह्मर्षि।"

नारद की प्रगाढ़ भक्ति को देखकर एकबार भगवान श्रीरामचन्द्र ने कहा, 'नारद' तुम्हारी स्तुति से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, तुम कोई वर माँगो। नारद ने कहा, 'राम ! यह वर दो कि तुम्हारे पादपद्मों में मेरी श्रद्धा-भक्ति रहे तथा तुम्हारी भुवनमोहिनी माया में न पड़ जाऊँ।' राम ने कहा—'तथास्तु' कोई वर और माँगो।' नारद ने कहा, 'प्रभु ! अन्य कोई वर मुझे नहीं चाहिए।'

सारा संसार इस भुवनमोहिनी माया के चक्कर में फँसा हुआ है। नारद आदि महापुरुष ही इसके परे चले गये हैं तथा लोक-कल्याण के लिये पथ-निर्देश कर गये हैं। शास्त्र ने इन लोगों को 'आधिकारिक पुरुष' की संज्ञा दी है—(ब्रह्मसूत्र ३।३।३२)। नारद के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१।३) में कहा है कि विष्णु भगवान ने इक्कीस बार अवतार ग्रहण किया और नारद के रूप में उन्होंने तीसरा अवतार लिया।

नारद शब्द की व्याख्या में कहा गया है—'नारं परमात्मविषयकं ज्ञानं ददाति इति नारदः'—अर्थात् नार का अर्थ है परमात्मविषयक ज्ञान, यह परमात्मविषयक ज्ञान जो देते हैं उन्हें नारद कहते हैं।

नारद के जीवन के सम्बन्ध में स्वयं नारद के श्रीमुख से तथा श्रीमद्भागवत, महाभारत, उपनिषद् आदि शास्त्र-ग्रन्थों में बहुत ही महत्वपूर्ण घटनाएँ वर्णित हैं। भागवत (७।१५।६९-७३) में स्वयं नारद धर्मराज युधिष्ठिर से अपने पूर्व जन्म के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कहते हैं, पूर्व-कल्प में मैं एक गन्धर्व था। मेरा नाम उपबर्हण था और गन्धर्वों में मेरा बड़ा सम्मान था। मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अपूर्व थी। एक बार देवताओं के यहाँ सन्त-समागम हुआ। वहाँ भगवान का लीला-गान हो रहा था, फिर भी मैं स्त्रियों को साथ लेकर लौकिक गान करता हुआ उन्मत्त जैसा वहाँ चला गया। देवताओं को इसमें अपमान लगा। मेरा प्रमाद देखकर उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि तुम्हारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम्हारा जन्म शूद्र-योनि में हो। उनके शाप से मैं दासी का पुत्र हुआ।'

महापुरुषों का क्रोध भी वरदान जैसा ही होता है। नारद की माँ वेदवादी ब्राह्मणों की दासी थी। उस जन्म में उन्हें महात्माओं का सत्संग प्राप्त हुआ तथा उनकी सेवा करने का सुअवसर मिला। इसके सम्बन्ध में नारद व्यासदेव से कहते हैं (भागवत १।५, १।६) कि—एक बार योगीजन वर्षा ऋतु में चातुर्मास्य कर रहे थे। मैं उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया गया था। बालक होते हुए भी मुझमें चंचलता नहीं थी; मैं जितेन्द्रिय, अल्पभाषी; शान्त एवं आज्ञाकारी सेवक था। मेरे शील-स्वभाव को

देखकर वे मुझ पर प्रसन्न हो गये। उनकी अनुमति प्राप्त करके बर्तनों में लगा हुआ अवशिष्ट अन्न मैं एक बार खा लिया करता था। इससे मेरे सारे पाप धुल गये; मेरा हृदय शुद्ध हो गया। वे लोग जिस प्रकार पूजा-आराधना एवं भगवत्चर्चा करते थे, उसमें मेरा भी मन लगने लगा। भगवान् श्रीकृष्ण की मनोहर लीला-गाथा सुनने से मेरी बुद्धि निश्चल हो गयी। उस बुद्धि से मैं इस सम्पूर्ण सत्-असत् रूप संसार को अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में माया से कल्पित देखने लगा। चातुर्मास्य करके जब वे संतजन जाने लगे तो उन्होंने मुझे गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दिया जो उपदेश भगवान् ने स्वयं किया है। उस उपदेश से भगवान् की माया के प्रभाव को मैं जान सका; जिसके ज्ञान से प्रभु के परम पद की प्राप्ति हो जाती है। मैं अपनी माँ का इकलौता पुत्र था। वह मुझे बहुत ज्यादा प्यार करती थी, उसे मेरे भविष्य की चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी। किन्तु दासी होने के कारण कुछ कर नहीं सकती थी। मेरी आयु उस समय पाँच वर्ष की थी। एक दिन मेरी माँ रात को गाय दुहने जा रही थी कि रास्ते में उसके पैर में सर्प ने डस लिया। उसकी मृत्यु हो गयी। मैंने माँ की मृत्यु को भी भगवान् का एक अनुग्रहही समझा। माँ का पुत्र-प्रेम भी एक बन्धन था जिसे उसने काट दिया। उस अल्प अवस्था में ही मैं उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। रास्ते में धन-धान्य से सम्पन्न अनेक नगर, गाँव, पर्वत आदि दिखे। चलते-चलते मैं बहुत थक गया,

शरीर एवं इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। एक सरोवर में मैंने स्नान आदि किया। इससे मेरी थकावट मिट गयी। तदुपरान्त उस निर्जन वन में एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर मैं, उन योगियों के निर्देशानुसार, भगवान् का ध्यान करने लगा। सम्पूर्ण मन एवं भक्ति-गद्गद् चित्त से प्रभु के चरणकमलों का ध्यान करते ही उनके दर्शन पाने की व्याकुलता से हृदय रो उठा। प्रभु की कृपा हुई, वे मेरे हृदय में आविर्भूत हो गये। उस दिव्य अनुभूति में मैं इतना आनन्दमग्न हो गया कि मुझे अपना तनिक भी भान न रहा। किन्तु वह दिव्य अनिर्वचनीय अनुभूति बिजली की भाँति आयी और चली गयी। मैं व्याकुल हो गया तथा मन को एकाग्र कर बारम्बार दर्शन पाने का प्रयत्न करने लगा। मुझ अबोध बालक को निर्जन वन में अत्यधिक व्याकुल होते देख स्वयं भगवान् ने आकाशवाणी की—'वत्स, इस जन्म में तुम मेरा दर्शन न पा सकोगे। पूर्णतया वासनारहित एवं शुद्ध हृदय हुए बिना मेरा दर्शन दुर्लभ है। तुम्हारे हृदय में मुझे प्राप्त करने की लालसा जाग्रत करने के लिये ही मैंने एक बार तुम्हें दर्शन दिया है। अल्पकालीन संतसेवा से ही तुम्हारा मन मुझमें स्थिर हुआ है। मुझे प्राप्त करने का तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी न टूटेगा।' इस दैवी वाणी को सुन तथा उनकी अपार कृपा का अनुभव कर मैंने प्रभु को प्रणाम किया तथा भगवान् का मंगलमय गुणगान करता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा। इस साधन

से मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्तियाँ मिट गयीं और मैं भगवत्परायण हो गया। यथाकाल मेरी मृत्यु हुई। मेरे प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने के कारण मेरा पंच-भौतिक शरीर नष्ट हो गया। उस कल्प में फिर मेरा जन्म नहीं हुआ। कल्प के अन्त में मैं ब्रह्माजी में प्रविष्ट हो गया। और जब ब्रह्माजी ने पुनः सृष्टि की, तब मरीचि आदि ऋषियों के साथ मैं भी प्रकट हो गया। तभी से मैं भगत्कृपा से वैकुण्ठ आदि में और तीनों लोकों में बाहर-भीतर बिना रोक-टोक विचरण करता हूँ। जब मैं उनकी लीलाओं का गान करने लगता हूँ, तब वे भक्तवत्सल प्रभु, जिनके चरणारविन्द समस्त तीर्थों के उद्‍गमस्थान हैं और जिनका यशोगान मुझे अति प्रिय है, अविलम्ब मेरे हृदय में बुलाये हुए की भाँति प्रकट हो जाते हैं। जिन लोगों का चित्त सदैव विषय-भोगों की कामना में रत है, उनके लिये प्रभु की दिव्य लीलाओं का कीर्तन भव-सागर से पार होने का जहाज है — यह मेरा अनुभव है! हे निष्पाप व्यासदेव! आपने मुझसे मेरे जन्म एवं कर्म का रहस्य पूछा था, वह सब मैंने बतला दिया।

देवर्षि नारद जिस प्रकार भगवत्प्रेम के श्रेष्ठ प्रतीक हैं, उसी तरह ज्ञान की पराकाष्ठा भी हमें उनमें दिखाई देती है। छान्दोग्य उपनिषद् में हम देखते हैं कि वे सनत्कुमार के पास जाते हैं तथा उनसे उपदेश-याचना करते हैं। नारद सनत्कुमार से कहते हैं — 'भगवन्! मुझे ऋग्वेद,, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद याद है, इनके

सिवा इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, और देवजनविद्या—नृत्य, संगीत आदि —यह सब मैं जानता हूँ। किन्तु मैं तो केवल मंत्रविद् हूँ, आत्मविद् नहीं। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मविद् शोक को पार कर लेता है– तरति शोकम् आत्मवित्। मुझे शोक से पार कर दीजिए।' नारद की इस आन्तरिक ब्रह्मपिपासा को देख सनत्कुमार उन्हें अनेक उपदेश देने के बाद कहते हैं — 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् ··· का नान्यत्पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्र अन्यत्पश्यति अन्यत्शृणोति अन्यद्वि जानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।' (छान्दोग्य उप० ७।२३।१, ७।२४।१) निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। सुख भूमा ही है। ······ जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सनत्कुमार से नारद को चरम ज्ञान की प्राप्ति हुई।

नारद महान् तपस्वी भी थे। महाभारत (शान्तिपर्व) में एक स्थल पर भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिर से

देवर्षि नारद के सम्बन्ध में कहते हैं कि बहुत पहले परमार्थ से सम्पन्न नारदजी भूमण्डल के सम्पूर्ण तीर्थों में विचरण करते हुए घूम रहे थे। वे हिमालय के समीपवर्ती पर्वत पर एक ऐसे स्थान पर गये जहाँ उन्हें कमल से भरा हुआ एक सरोवर दिखायी दिया। वहाँ वे स्नान करके इन्द्रियों को संयम में रखकर भगवान् के स्वरूप का रहस्य जानने के लिए आराधना करने लगे। सौ वर्ष तक कठोर तपस्या चलती रही। तदनन्तर उन्हें भगवान् विष्णु का दर्शन हुआ। भगवान् विष्णु ने नारद को दिव्य अनुस्मृति का उपदेश दिया तथा कहा कि मृत्युकाल में इसका अध्ययन और श्रवण करके मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसे सुन भगवान की स्तुति करते हुए नारद प्रार्थना करते हैं—

त्वद्बुद्धिस्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः।
त्वमेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते॥

× × ×

अनृणो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम्॥'

मृत्युकाल उपस्थित होने पर मेरी बुद्धि आप में लगी रहे, मेरे प्राण आप में लगे रहें, मेरा आपमें भक्तिभाव बना रहे और मैं सदा आपकी ही शरण में रहूँ। इस प्रकार मैं आपका ही स्मरण करता रहूँ। .... मैं सबसे उऋण होकर भगवान् विष्णु के परमधाम को जाना चाहता हूँ।

श्रीभगवान् ने तब नारद को आश्वासन देते हुए एक महान सत्य बतलाया

'अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥'

हे नारद, मैं उस सौभाग्यशाली भक्त का हूँ और वह भक्त भी मेरा सनातन सखा है। मैं उसके लिए कभी अदृश्य नहीं होता और न वह कभी मेरी दृष्टि से ओझल होता है।

तदनन्तर श्रीभगवान् नारद एवं नारद जैसे महापुरुषों को आदेश देते हैं :

'तस्मात् प्रदेयं साधुभ्यो जन्मबन्धभयापहम्।
एव दत्त्वा नरश्रेष्ठ श्रेयो वीर्यं च विन्दति ॥'

हे नरश्रेष्ठ नारद! साधु पुरुषों को जन्म और बन्धन के भय को दूर करनेवाला ज्ञान ही देना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान देकर मनुष्य कल्याण और बल प्राप्त करता है।

इससे हमें स्पष्ट होता है कि श्रीभगवान् के इस दिव्य आदेश को शिरोधार्य कर नारद ज्ञान, भक्ति एवं शान्ति के देवदूत बन गये।

नारद का हृदय भी महान् था। प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु जब मन्दराचल की एक घाटी में अत्यन्त कठोर तपस्या करने गये थे—इस इच्छा से कि मैं समस्त प्राणियों का एकछत्र सम्राट हो जाऊँ और मुझे कोई न मार सके, तब देवतागण दैत्यों को बन्दी बना कर ले जा रहे थे। उनमें प्रह्लाद की माँ कयाधू भी एक बन्दिनी थीं। दैववश उस समय उधर से नारद आ निकले और उन्होंने देवताओं से प्रार्थना कर कयाधू को छुड़ा लिया,

अपने आश्रम में ले आये और कहा — बेटी, जब तक तुम्हारा पति तपस्या से नहीं लौटता है तब तक तुम यहीं रहो। उस समय कयाधू के गर्भ में प्रह्लाद था। गर्भस्थ शिशु की मङ्गलकामना से कयाधू भक्ति तथा श्रद्धा के साथ देवर्षि की सेवा करने लगीं। नारद उन्हें भक्ति तथा ज्ञान का उपदेश देने लगे। उपदेश देते समय उनकी दृष्टि गर्भस्थ बालक पर थी। उसी के प्रभाव से तथा नारद की असीम कृपा के कारण जब प्रह्लाद का जन्म हुआ, उन्हें उस ज्ञान की विस्मृति नहीं हुई; उनका भगवत्ज्ञान, भक्ति एवं विश्वास अक्षुण्ण बना रहा।

इसी प्रकार ध्रुव को भी नारद से ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। जब ध्रुव अपनी सौतेली माँ सुरुचि के कटु वचन सुनकर वन में तपस्या करने जा रहे थे, उस समय मार्ग में उन्हें नारद मिल गये। उन्होंने बालक ध्रुव को बहुत समझाया कि तुझे हठ नहीं करना चाहिए, इस अल्प अवस्था में तू कठोर तपस्या करने में कैसे सफल होगा, इत्यादि। किन्तु जब उन्होंने ध्रुव का निश्चय देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उसे उपदेश दिया।

'धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥'

(श्रीमद्भागवत ४।८।४१)

'जिस पुरुष को अपने लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ की अभिलाषा हो, उसके लिए उनकी प्राप्ति का उपाय एकमात्र श्रीहरि के चरणों का सेवन ही है।

तदुपरान्त नारद ने ध्रुव को उपासना-ध्यान की पूरी पद्धति समझा दी तथा उसे मंत्र दीक्षा भी दी। ध्रुव ने तदनुसार एकाग्र चित्त से परमपुरुष नारायण की उपासना प्रारम्भ कर दी। छ; मास तक सम्पूर्ण मन से तपस्या करने के बाद ध्रुव को भगवान् का दर्शन प्राप्त हुआ तथा सङ्कल्पित वरदान मिला। ध्रुव ने भौतिक वर ही माँगा था। इसलिए उनका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। बाद में उन्हें अपनी भूल समझ में आ गया। उन्होंने क्रोध इत्यादि त्याग दिया। उन्हें पुनः भगवान् का दर्शन प्राप्त हुआ और उस समय उन्होंने माँगा कि मुझे श्रीहरि की अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर भवसागर को पार कर जाता है — "हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया, तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः। (भागवत ४।१२।८) और सचमुच ही प्रभुकृपा से वे मुक्त हो गये।

पद्मपुराण में भी नारद की महिमा इस प्रकार गायी गई है।

'जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य। ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकल कुशल पात्रं ब्रह्मपुत्रं नतोऽस्मि'— सकल कल्याण के आश्रय ब्रह्मपुत्र नारद की जय हो! जिनके केवल एक शब्द से ही भक्त प्रह्लाद मुक्त हो गये तथा जिनकी असीम अनुकम्पा से ध्रुव को ध्रुवपद की प्राप्ति हुई—उन्हें बारम्बार प्रणाम!

श्री रामकृष्णदेव कहा करते थे कि जीव का प्रथम कर्तव्य है ज्ञान प्राप्त कर लेना, तदनन्तर वह चाहे तो संसार में प्रवेश कर सकता है । कटहल काटने के पहले यदि हाथ में तेल लगा लिया जाय तो कटहल का दूध हाथ में नहीं चिपकता; इसी प्रकार यदि ज्ञानरूपी तेल हाथ में लगाकर इस संसार में रहा जाय, तो कामिनी-कांचनरूपी दाग मन में नहीं लगता । नारद का भी यही मत था । प्रजापति दक्ष के हर्यश्व नामक दस हजार पुत्र थे । ये सभी एक ही आचरण और एक भाव के थे । दक्ष ने उन्हें सृष्टि के विस्तार के लिए सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी । इसे सुन वे तप करने के लिए नारायण-सरोवर नामक महान् तीर्थ में गये । उन्हें पवित्र देख तथा भगवत्प्राप्ति के उत्तम अधिकारी जानकर देवर्षि नारद ने आत्मज्ञान एवं मोक्षप्राप्ति का उपदेश दिया । नारद के उपदेश से वे संन्यासी बन गये । दक्ष को अत्यन्त दुःख हुआ । उन्होंने पुनः एक हजार पुत्र उत्पन्न किये, जिनका नाम था शबलाश्व । दक्ष ने उन्हें भी आज्ञा दी कि प्रजासृष्टि करो । वे भी उसी उद्देश्य से तपस्या करने के लिए नारायण-सरोवर गये । नारद ने उन्हें भी अपने धर्मज्ञ ज्येष्ठ भ्राताओं का अनुगमन करने के लिए कहा तथा भगवत्प्राप्ति का उपदेश दिया । फलस्वरूप वे सब संन्यासी हो गये । यह समाचार मिलने पर दक्ष को बहुत क्रोध आया और उन्होंने नारद को शाप दिया— "जाओ, लोक-लोकान्तरों में भटकते रहो ।

कहीं भी तुम्हें ठहरने को स्थान नहीं मिलेगा।" संत-शिरोमणि नारद ने 'बहुत अच्छा' कहकर शाप ग्रहण कर लिया। नारद की इस महान् सहनशीलता को देखकर शुकदेव परीक्षित् से कहते हैं— 'एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्' (भागवत ६।५।४४) — संसार में बस, साधुता इसी का नाम है कि बदला लेने की शक्ति रहने पर भी दूसरे का अपकार सह लिया जाय।

तब से नारद नित्य परिव्राजक हैं। उनका नित्य कार्य है— अपनी वीणा के मधुर झंकार के साथ हरि के गुणों का गान करते हुये सदैव पर्यटन करना। भागवत (६।५।२२) में इसका उल्लेख भी है:

'स्वर ब्रह्मणि निर्भात हृशीकेश पदाम्बुजे।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः॥'

—देवर्षि नारद स्वरब्रह्म में अभिव्यक्त हुए, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने चित्त को अखण्ड रूप से स्थिर करके लोक-लोकान्तरों में विचरने लगे।

महाभारत में भी नारद के इस दिव्य कार्य का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि महा-तपस्वी एव पापरहित नारद, ब्रह्मा की ही भाँति अमित दीप्ति और ओज से प्रकाशित, अपनी इच्छा के अनुसार तीनों लोकों में विचरण करते थे—

'ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महतपा।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः॥'

—महाभारत, १२।२२८।५.

यह भी ध्यान में रखने योग्य घटना है कि नारद से ही प्रेरित होकर आदिकवि वाल्मीकि रामायण लिखने को दृढ़संकल्प हुए थे। वाल्मीक-रामायण के प्रथम श्लोक में ही वाल्मीकि नारद मुनि के सम्बन्ध में कहते हैं—'तपःस्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।' वाल्मीकि-रामायण तो नारद की ही देन है। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि नारद ऋषि ने 'मरा' मंत्र ही वाल्मीकि दस्यु को प्रदान किया था। बारम्बार भक्तिपूर्वक उसके जप से ही वाल्मीकि के हृदय-पटल पर श्रीरामचन्द्रजी की अपूर्व लीला-गाथा लिखने की स्फूर्ति आयी तथा वे रामायणप्रणेता कवि बनकर अमर हो गये।

यह भी अविस्मरणीय घटना है कि नारद से ही दिव्य स्फूर्ति पाकर चिर शान्ति पाने के लिए व्यासदेव ने श्रीमद्-भागवत की रचना की। वह कथा इस प्रकार है—भगवान् व्यास ने लोककल्याणार्थ वेदों के चार विभाग किये—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। साथ ही महाभारत की रचना की। इतिहास और पुराणों का भी निर्माण किया। इतने लोककल्याणार्थ कार्य करने पर भी उनके हृदय को सन्तोष नहीं हुआ, शान्ति नहीं मिली। खिन्न मन से वे विचार करने लगे—'मैंने निष्कपट भाव से सब कुछ किया है, किन्तु मेरा हृदय अपूर्ण-काम सा जान पड़ता है। अवश्य ही अब तक मैंने भगवान् को प्राप्त कराने वाले धर्मों का पूरा निरूपण नहीं किया है। वे ही धर्म परमहंसों को प्रिय हैं और वे ही भगवान् को भी प्रिय हैं।' व्यासदेव इस

प्रकार चिन्तन कर ही रहे थे कि वीणापाणि देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। व्यास ने अपने असन्तोष तथा अशान्ति का कारण एवं उसे दूर करने का उपाय पूछा। यह सुन नारद मुनि कहते हैं—"व्यासजी, आपने भगवान् की निर्मल कीर्ति का गान नहीं किया! मेरा मत है कि जिससे भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते, वह ज्ञान अपूर्ण है। आपके मन के असन्तोष का कारण यही है। जिस वाणी से—चाहे वह वाणी कितनी ही मधुर क्यों न हो—जगत् को पवित्र करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के यश का गान नहीं होता, वह तो 'काकतीर्थ' है; वहाँ मानसरोवर में विहरने वाले राजहंसों के समान परमहंस भक्तों का मन कभी भी नहीं रमता; वहाँ तो सिर्फ मलिन विषयकामी मनुष्यों का ही मन रहता है। इसके विपरीत, जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है तथा व्याकरण की दृष्टि से भी कुछ भूल है, परन्तु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवद्भाव से परिपूर्ण है, वह तो लोगों के सारे पापों का नाश कर देती है। जो मनुष्य भगवान् की लीला के अतिरिक्त और कुछ कहने की इच्छा करता है, वह उस इच्छा से उद्भूत अनेक नाम और रूपों के चक्कर में पड़ जाता है। उसकी बुद्धि भेदभाव से भर जाती है। हवा के झकोरों से डगमगाती हुई नाव की जैसी अवस्था होती है, उसी तरह उसकी भी चंचल बुद्धि कहीं स्थिर नहीं हो पाती। व्यासदेव! आपकी दृष्टि अमोघ है, आप यह निश्चित जानिये कि आप पुरुषोत्तम भगवान् के कलावतार हैं। आप अजन्मा हैं, फिर भी आपने जगत के परम

कल्याण के लिए शरीर ग्रहण किया है। इसलिए अब आप विशेष रूप से भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन कीजिए। आत्मतुष्टि एवं शान्ति का यही उपाय है।" यह सर्वविदित है कि इसके बाद ही व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत की रचना की।

नारद की महान् कृतियों में नारद-भक्ति सूत्र तथा नारद-पांचरात्र बहुत ही प्रसिद्ध है। देवर्षि नारद तो भक्ति के महान् आचार्य थे। भक्ति-सूत्र में नारद ने यह वर्णन किया है कि साधक किस तरह पवित्र जीवन एवं अद्वैत भक्ति के द्वारा भगवत्प्राप्ति कर लेता है। 'पांचरात्र' में कर्मों के द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका बर्णन है।

भीष्म पितामह धर्मराज युधिष्ठिर को यह बतलाते हुए कि नारद का पूर्ण आदर्श व्यक्तित्व क्या था, भगवान् श्रीकृष्ण का उग्रसेन के प्रति कथन उद्धृत करते हैं :—

— भगवान् श्रीकृष्ण ने उग्रसेन से कहा, "नारदजी में शास्त्रज्ञान और चरित्रबल दोनों एक साथ संयुक्त हैं फिर भी उनके मन में अपनी सच्चरित्रता के कारण तनिक अभिमान नहीं है। वह अभिमान शरीर को संतप्त करनेवाला है। उसके न होने से ही नारदजी की सर्वत्र पूजा होती है। उनमें अप्रीति, क्रोध, चपलता और भय — ये दोष नहीं है, वे दीर्घसूत्री नहीं हैं तथा धर्म और दया आदि करने में बड़े शूरवीर हैं। निश्चय ही नारद उपासना करने के योग्य हैं। कामना या लोभ से भी कभी उनके

द्वारा अपनी बात पलटी नहीं जाती। वे अध्यात्मशास्त्र के तत्वज्ञ विद्वान्, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं। वे तेज, बुद्धि, यश, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्या द्वारा सबसे बढ़े-चढ़े हैं। वे सुशील, सुख से सोनेवाले, पवित्र भोजन करनेवाले, उत्तम आदर के पात्र, पवित्र, उत्तम बचन बोलनेवाले तथा ईर्ष्या से रहित हैं। वे खुले दिल से सबका कल्याण करते हैं। उनके मन में लेश-मात्र भी पाप नहीं है। दूसरों का अनर्थ देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती। वे वेदों और उपनिषदों की, श्रुतियों तथा इतिहास-पुराण की कथाओं द्वारा प्रस्तुत विषयों को समझाने और सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वे सहनशील तो हैं ही, कभी किसी की अवज्ञा नहीं करते हैं। वे सर्वत्र समभाव रखते हैं, इसलिए उनका न कोई प्रिय है और न अप्रिय है। वे मन के अनुकूल बोलते हैं। वे अनेक शास्त्रों के विद्वान हैं और उनका कथा कहने का ढंग भी बड़ा विचित्र है। उनमें पूर्ण पाण्डित्य होने के साथ ही लालसा और शठता का भी अभाव है। दीनता, क्रोध और लोभ आदि दोषों से वे सर्वथा रहित हैं। धन, अन्य कोई प्रयो-जन, अथवा काम के विषय में उनका पहले कभी किसी के साथ कलह हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। उनमें समस्त दोषों का अभाव है। उनको मेरे प्रति दृढ़ भक्ति है, उनका हृदय शुद्ध है, वे विद्वान् और दयालु है, उनके मोह आदि दोष दूर हो गये हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियों में आसक्ति से रहित हैं, फिर भी आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं। उनके मन में

दीर्घ काल तक कोई संशय नहीं रहता और वे बहुत अच्छे वक्ता हैं। उनका मन कभी विषयभोगों में स्थित नहीं होता और वे कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं। किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं रखते तथा सबसे मीठे बचन बोलते हैं। वे लोगों की नाना प्रकार की चित्तवृत्ति को देखते और समझते हैं। फिर भी किसी की निन्दा नहीं करते। किसका संसर्ग कैसा है— इसके ज्ञान में बड़े निपुण हैं। वे किसी शास्त्र में दोषदृष्टि नहीं करते। अपनी नीति के अनुसार जीवन-यापन करते हैं। समय को कभी व्यर्थ नहीं गँवाते और मनको वश में रखते हैं। उन्होंने योगाभ्यास के लिए बड़ा परिश्रम किया है। उनकी बुद्धि पवित्र है। उन्हें समाधि से कभी तृप्ति नहीं होती। वे कर्तव्यपालन के लिए सदा उद्यत रहते हैं और कभी प्रमाद नहीं करते हैं। वे निर्लज्ज नहीं हैं। दूसरों की भलाई के लिए सदा उद्यत रहते हैं इसलिए दूसरे लोग उन्हें अपने कल्याणकारी कार्यों में लगाये रखते हैं। वे किसी के गुप्त रहस्य को कहीं प्रकट नहीं करते हैं। वे धन का लाभ होने से प्रसन्न नहीं होते और उसके न मिलने से उन्हें दुःख भी नहीं होता है। उनकी बुद्धि स्थिर और मन आसक्तिरहित है। इन्हीं सब उत्तम गुणों के कारण वे सर्वत्र पूजे जाते हैं। वे सम्पूर्ण गुणों से सुशोभित, कार्यकुशल, पवित्र, नीरोग, समय का मूल्य समझनेवाले और परम प्रिय आत्मतत्व के ज्ञाता हैं; फिर कौन उन्हें प्रिय न बनायेगा।" देवर्षि नारद के महान् जीवन एवं दिव्य कार्य का इतना मार्मिक वर्णन भग-

वान् श्रीकृष्ण ने स्वयं किया है, इसी से नारद की उच्चता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

नारद तो परब्रह्म परमात्मा से एकरूप हो गये थे, किन्तु भगवान् के दिव्य आदेशानुसार वे नित्य में अवस्थान न कर, नित्य चिरन्तन पुरुष होते हुए भी लीला में अवस्थान करते थे तथा भक्ति-परिपूर्ण हृदय से अपनी वीणा की मधुर झंकार एवं अमृतमयी वाणी द्वारा जीवों का मन एकाग्र एवं अन्तर्मुखी कर श्रीभगवान् के चरणों में लगाने के प्रयास में सदैव रत रहते थे। उनका जीवन भगवच्चरणों में सम्पूर्णतया निवेदित था। उनकी सम्पत्ति भक्ति-धन थी। भगवद्भक्तों के जीवन की पूर्ण रूपरेखा श्रीमद्भागवत के माहात्म्य-वर्णन में भक्ति के श्रीमुख द्वारा वर्णित निम्नलिखित श्लोक में हमें मिलती है:

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥

—'जिनके हृदय में एकमात्र श्रीहरि की भक्ति निवास करती है, वे त्रिलोकी में अत्यन्त निर्धन होने पर भी परम धन्य हैं, क्योंकि इस भक्ति के सूत्र से बँधकर तो साक्षात् भगवान् भी अपना परमधाम छोड़कर उनके हृदय में आकर बस जाते हैं। नारद इसके जीते-जागते प्रतीक हैं।

मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

—श्री शरद् चन्द्र पेंढारकर।

१. मानवोपयोगी चीजें ?

प्रभु ईसा एक बार रास्ते से जा रहे थे, कि उन्हें पाँच गधों पर बड़ी बड़ी गठरियाँ लादे हुए एक सौदागर दिखाई दिया। उन गठरियों का बोझ इतना अधिक था, कि वे बेचारे गधे उसे सम्हाल भी नहीं पा रहे थे। अतः ईसा ने सौदागर से प्रश्न किया, "सौदागर, इन गठरियों में तुमने ऐसी कौन सी चीजें रखी हैं, जिन्हें ये बेचारे गधे वहन नहीं कर पा रहे हैं ?"

"इन गठरियों में मानवोपयोगी चीजें भरी हुई हैं और उनकी बिक्री के लिए मैं बाजार जा रहा हूं। ये चीजें इतनी बहुमूल्य हैं कि गधों की ओर दृष्टि डालने में मैं असमर्थ हूँ।," उस सौदागर ने जवाब दिया।

"अच्छा! कौन-कौन सी चीजें हैं इनमें, जरा मैं भी तो जानूँ!" जिज्ञासावश ईसा ने पूछा।

"यह जो पहला गधा आप देख रहे हैं न, इसपर 'अत्याचार' से भरी गठरी लदी हुई है।"

"क्या कहा, अत्याचार ?," साश्चर्य ईसा ने पूछा, "भला अत्याचार को कौन खरीदेगा ?"

"इसके खरीददार हैं राजा-महाराजा तथा सत्ताधारी लोग। काफी ऊँची दर पर बिक्री होती है इसकी।"

"अच्छा, इस दूसरी गठरी में क्या है?"

"यह गठरी तो 'अहंकार' से लबालब भरी हुई है और इसके खरीददार हैं सांसारिक लोग। और तीसरे गधे पर 'ईर्ष्या' की गठरी लदी हुई है। इसके ग्राहक हैं ज्ञानी तथा विद्वान् लोग। इसे खरीदने के लिए तो इन लोगों का ताँता लगा रहता है।"

"अच्छा! चौथी गठरी में क्या है सौदागर?"

"इसमें 'बेईमानी' भरी हुई है और इसके ग्राहक हैं व्यापारी वर्ग। इसकी बिक्री में भी मुझे काफी मुनाफा होता है।"

"और अंतिम गधे पर?"

"उसपर 'छलकपट' से भरी गठरी रखी हुई है। और इसकी माँग स्त्रियों की ओर से ही अधिक है।"

"किंतु तुमने अपना परिचय तो नहीं दिया, सौदागर?" ईसा ने कहा।

"मेरा नाम तो तुमने सुना ही होगा। मैं हूँ शैतान। सारी मानवजाति मेरी प्रतीक्षा बड़ी ही उत्सुकता से किया करती है। यही कारण है कि मेरे व्यापार में लाभ ही लाभ है।" और यों कहकर वह सौदागर चलता बना।

प्रभु ईसा ने ऊपर देखकर कहा, "हे प्रभो! इस मानव जाति को कुछ तो सद्बुद्धि प्रदान करो, ताकि वे इस दुष्ट सौदागर के चंगुल से छुटकारा पा सकें और साथ ही उन्हें

इतना तो ज्ञान प्राप्त हो कि वे किस चीज़ को खरीदने जा रहे हैं !"

२. अधःपतन का कारण

बर्धमान महावीर से उनके एक शिष्य ने प्रश्न किया, "गुरुदेव, मनुष्य के अधःपतन का क्या कारण है और उससे अपनी मुक्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए ?"

महाबोर बोले, "यदि कोई कमंडलु भारी हो और उसमें पानी भी अधिक मात्रा में समा सकता हो, तो क्या वह खाली अवस्था में नदी में छोड़ा जाने पर डूबेगा ?"

"कदापि नहीं !" उस शिष्य ने जवाब दिया।

"यदि उसके दाईं ओर एक छिद्र हो तो क्या उस अवस्था में भी वह तैर सकता है ?"

"नहीं, वह डूब जावेगा।"

"और छिद्र बाईं ओर हो तो ?"

"छिद्र बाईं ओर हो, या दाईं ओर; छिद्र कहीं भी हो, पानी उसमें प्रवेश करेगा और अंततः वह डूब ही जावेगा।"

"तो बस यह जान लो कि मानवजीवन भी कमंडलु के ही समान है। उसमें यदि कोई दुर्गुण रूपी छिद्र हुआ तो समझ लो कि वह टिकने वाला नहीं। क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अहंकार ये सारे दुर्गुण मनुष्य को डुबोने में कारणीभूत हो सकते हैं, इसलिए हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे जीवन रूपी कमंडलु में कोई दुर्गुणरूपी

छिद्र तो जन्म नहीं ले रहा है। और यदि हमने उसी समय उसे उभरने नहीं दिया, तो जान लो कि हमारा जीवन निष्कंटक रहेगा और हमें हर चीज सुलभता से प्राप्त होगी।"

३. अपराधी कौन ?

एक बार हज़रत उमर साहब रात्रि को शहर की आम सड़क से गुजर रहे थे कि उन्हें एक घर से स्त्री-पुरुष की सम्मिलित हँसी की आवाज सुनाई दी। वे मन ही मन बोले, "कितने मूर्ख हैं ये लोग कि स्वयं तो जाग ही रहे हैं और अपनी हँसीसे दूसरों की भी नींद हराम कर रहे हैं। और उत्सुकतावश वे उस घर की दीवार पर चढ़ गये। उन्होंने अंदर जो देखा तो वे चकित रह गये। एक टेबुल पर शराब की बोतलें रखी हुई थीं और गिलास मुँह में लगाये एक पुरुष और स्त्री जोर-जोर से हँस रहे थे।

शराब को कुरान में एक त्याज्य वस्तु मानी गई है। उन दोनों को नशे में चूर देखकर उमर साहब को क्रोध आ गया और वे वहीं से गरज उठे, "मूर्खों, तुम्हें तनिक भी लज्जा नही आती, जो शराब पीकर दूसरों की नींद हराम कर रहे हो ?"

उमर साहब को देखकर दोनों का नशा काफूर हो गया। वह पुरुष उठ खड़ा हुआ और सलाम करके दबी जबान से बोला, "बादशाह सलामत, क्षमा करें, हमसे तो एक ही अपराध हुआ है, जब कि आप से तो तीन अपराध हुए हैं।"

"क्या मुझसे तीन अपराध हुए हैं ?," साश्चर्य उमर साहब बोले।

"जी हाँ !," वह पुरुष बोला, "अल्लाह का कहना है कि किसी के दोष कभी भी दूसरों के सामने न लाने चाहिए, जबकि आप चिल्लाकर यह बात पड़ोसियों के प्रकाश में ले आये कि हमने शराब का सेवन किया है। दूसरे, खुदा का हुक्म है कि किसी के घर में प्रवेश सामने के द्वार से ही करना चाहिए, जब कि आप दीवार पर से झाँक रहे हैं। तीसरे, परवरदिगार ने ऐसा आदेश दिया है कि किसी के घर जाने पर घर के लोगों को सर्वप्रथम सलाम करना चाहिए और आपने इस नियम का भी पालन नहीं किया।"

उस शराबी के मुख से अपने दोष सुनकर उमर साहब को पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने उससे माफी माँगी तथा उसे शराव सेवन न करने की शपथ दिलाई।

४. मधुर जीवन का रहस्य

संत एकनाथ जी के पास एक व्यक्ति आया और बोला "नाथ ! आपका जीवन कितना मधुर है ! हमें तो शान्ति एक क्षण भी प्राप्त नहीं होती। आप ऐसा कोई उपाय बतावें कि हमें लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि दुर्गुण न सता पावें और हम जीवन में आनंद की प्राप्ति करें।"

"तुझे वह उपाय तो बता सकता था, किंतु तू तो अब आठही दिनों का मेहमान है अतः पहले की ही भाँति अपना जीवन व्यतीत कर।"

उस मनुष्य ने ज्योंही सुना कि वह अब अधिक दिनों तक जीवित न रहेगा, वह उदास हो गया और तुरंत ही अपने घर लौट गया। घर में वह पत्नी से जाकर बोला, "मैंने तुम्हें कई बार नाहक ही कष्ट दिया है। मुझे क्षमा करो।" फिर बच्चों से बोला, "बच्चो, मैंने तुम्हें कई बार पीटा है, मुझे उसके लिए माफ करो।" मित्रों के पास जाकर भी उसने क्षमा माँगी। इस तरह जिस-जिस व्यक्ति के साथ उसने दुर्व्यवहार किया था, उन सबके पास जा-जाकर उसने माफी माँगी। इस तरह आठ दिन व्यतीत हो गये और नवें दिन वह एक नाथ जी के पास पहुँचा और बोला, "नाथ, आठ दिन तो बीत गये। मेरी अंतिम घड़ी के लिए कितना समय शेष है ?"

"तेरी अंतिम घड़ी तो परमेश्वर ही बता सकता है। किंतु मुझे यह तो बता कि ये आठ दिन तेरे कैसे व्यतीत हुए ? भोग-विलास में मस्त होकर तूने आनंद तो प्राप्त किया ही होगा ?"

"क्या बताऊँ नाथ, मुझे इन आठ दिनों में मृत्यु के अलावा और कोई चीज दिखाई नहीं दे रही थी। इसी लिए मुझे अपने द्वारा, किये हुए सारे दुष्कर्म स्मरण हो आये और उसके पश्चात्ताप में ही यह अवधि बीत गई।"

"तो मित्र, तूने जिस बात को ध्यान में रखकर ये आठ दिन बिताये हैं, हम साधु लोग इसी बात को अपने सामने रखकर सारे काम किया करते हैं। ध्यान रखो, यह अपनी देह क्षणभंगुर है और अंततः इसे मिट्टी में मिलना ही है,

अतः इसका गुलाम होने की अपेक्षा परमेश्वर का गुलाम होना ही श्रेयस्कर है। प्रत्येक के साथ समान भाव रखने में ही जीवन की सार्थकता है और यही कारण है कि यह जीवन हमें मधुर मालूम होता है जब कि तुम्हें असहनीय।"

५. ज्ञान का पहला पाठ

एक युवा ब्रह्मचारी देश-विदेश का भ्रमण कर और वहाँ के ग्रंथों का अध्ययन कर जब अपने स्वदेश लौटा, तो सबके पास इस बात की शेखी बघारने लगा कि उसके समान अधिक ज्ञानी-विद्वान और कोई नहीं। उसके पास जो भी व्यक्ति जाता, वह उससे प्रश्न किया करता कि क्या उसने उससे बढ़कर कोई विद्वान देखा है?

बात भगवान बुद्ध के कानों में भी जा पहुँची। वे ब्राह्मण वेश में उसके पास गये। ब्रह्मचारी ने उनसे प्रश्न किया, "तुम कौन हो, ब्राह्मण?"

"अपनी देह और मन पर जिसका पूर्ण अधिकार है, मैं ऐसा एक तुच्छ मनुष्य हूँ।" बुद्धदेव ने जवाब दिया।

"भली भाँति स्पष्ट करो, ब्राह्मण! मेरे तो कुछ भी समझ में न आया।" वह अहंकारी बोला।

बुद्धदेव बोले, "जिस तरह कुम्हार घड़े बनाता है, नाविक नौकाएँ चलाता है, धनुर्धारी बाण चलाता है, गायक गीत गाता है, वादक वाद्य बजाता है और विद्वान् वाद-विवाद में भाग लेता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष स्वयं पर ही शासन करता है।"

ज्ञानी पुरुष भला स्वयं पर कैसे शासन करता है ?" उस ब्रह्मचारी ने पुनः प्रश्न किया।

"लोगों द्वारा स्तुति-सुमनों सा वर्षाव किये जाने पर अथवा निंदा के अंगार बरसाने पर भी ज्ञानी पुरुष का मन शांत ही रहता है। उसका मन सदाचार, दया और विश्व-प्रेम पर ही केन्द्रित रहता है, अतः प्रशंसा या निन्दा का उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ता। यही वजह है कि उसके चित्तसागर में शांति की धारा बहती रहती है।"

उस ब्रह्मचारी ने जब स्वयं के बारे में सोचा, तो उसे आत्मग्लानि हुई और बुद्धदेव के चरणों पर गिरकर बोला, "स्वामी, अब तक तक मैं भूल में था। मैं स्वयं को ही ज्ञानी समझता था, 'किंतु आज मैंने जाना कि मुझे आपसे बहुत कुछ सीखना है।"

"हाँ, ज्ञान का प्रथम पाठ आज ही तुम्हारी समझ में आया है,बंधु ! और वह है नम्रता। तुम मेरे साथ आश्रम में चलो और इसके आगे के पाठों का अध्ययन वहाँ करना।"

६. ज्ञान में वृद्धि

स्वामी शंकराचार्य समुद्र किनारे बैठकर अपने शिष्यों से वार्तालाप कर रहे थे कि एक शिष्य ने चाटुकारिता भरे शब्दों में कहा, "गुरुवर ! आपने इतना अधिक ज्ञान कैसे अर्जित किया, यही सोचकर मुझे आश्चर्य होता है। शायद और किसी के पास इतना अधिक ज्ञान का भंडार होगा !"

"मेरे पास ज्ञान का भंडार है, यह तुझे किसने बताया? मुझे तो अपने ज्ञान में और वृद्धि करनी है।" शंकराचार्य बोले। फिर उन्होंने अपने हाथ की लकड़ी पानी में डुबाई और उसे उस शिष्य को दिखाते हुए बोले, "अभी-अभी मैंने इस अथाह सागर में यह लकड़ी डुबाई किंतु उसने केवल एक बूँद ही ग्रहण किया। बस यही बात ज्ञान के बारे में है। ज्ञानागार कभी भी भरता नहीं, उसे कुछ न कुछ ग्रहण करना ही होता है। मुझसे भी बढ़कर विद्वान् विद्यमान हैं। मुझे भी अभी बहुत कुछ ग्रहण करना है।"

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते यथा कर्मपुरा कृतम्॥

—जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा के बिना ही अपने समय पर वृक्षों में लग जाते हैं, उसी प्रकार पहले के किये हुए कर्म भी अपने फल-भोग के समय का उल्लंघन नहीं करते।

— महाभारत

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(१)

वे उठ खड़े हुए। अभी रात्रि थोड़ी शेष ही थी। चारों ओर घना कुहरा छाया हुआ था। शरीर को भेदने वाली ठंडी हवा बह रही थी। सारी रात ठंढ से ठिठुरते हुए बीती थी। उनकी दृष्टि उस लकड़ी के डब्बे की ओर गई जिसने रात में उन्हें शरण दी थी और फिर अपने कपड़ों की ओर उनकी नजर दौड़ गई। एक क्षीण मुस्कान चेहरे पर फैल गई। उस डब्बे की कालिमा यत्र-तत्र कपड़ों में लग गई थी। जगह-जगह से कपड़े फट भी गये थे। इतने बड़े शहर में, तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के अग्रणी कहलाने वाले लोगों के बीच, उन्हें अतिथि रूप में स्वीकार करने वाला यह निर्जीव डब्बा ही मिला था। नमी लिए हुए हवा की ठंडी बयारों से उन्हें अहसास हुआ कि पास में कोई सरोवर होगा और वे उसी दिशा में बढ़ चले।

सारा शहर कोहरे की साया ओढ़े पड़ा था। बिजली के बल्बों का क्षीण प्रकाश कुहरे को भेद कर बिखर रहा था। सड़कें सुनसान पड़ी थीं। यदाकदा लोग लबादों से शरीर ढँके हुए निकल जाते थे। पर इनके वस्त्र

साधारण थे। तीक्ष्ण हवा रह-रह कर शरीर में सिहरन उत्पन्न कर रही थी। कई दिनों के निराहार से उनकी देह क्लान्त हो गई थी। क्षुधा से पेट जला जा रहा था। पर वे चलते गए। निरुद्देश्य, दिशाविहीन, सड़क पर आगे बढ़ते गये।

धीरे-धीरे प्राची में लालिमा छाने लगी। नगरी ने ओढ़ी हुई चादर उतार फेंकी। सड़कों में चहल-पहल बढ़ने लगी। अब वे शहर के अधुनातन भाग में थे। शायद शहर के लक्ष्मीपुत्रों की बस्ती थी। सुन्दर उद्यानों से सज्जित, लतागुल्मों से वेष्टित ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ अपने निवासियों के सौन्दर्य बोध का परिचय दे रही थी। चलते-चलते वे थक गये। आश्रय पाने की आशा से वे पास के भवन में गये और द्वार खटखटाया। थोड़ी देर में दरवाजा खुला। एक महिला बाहर आई। इसके पहले कि वे उससे कुछ कह पाते, घृणा और उपेक्षा भरी निगाह फेंकती हुई जोरों से दरवाजा बन्द कर वह अन्दर चली गई। पुनः मुस्कान की रेखा उनके क्लान्त चेहरे पर फूट पड़ी। इस तरह का यह पहला अनुभव न था। इस देश में उन्हें ऐसे ही अनुभव अधिकतर मिले थे। तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत कहलाने वाले तथा भ्रातृभाव और विश्वबंधुत्व की ऊँची-ऊँची बातें कहने वाले लोगों का एक गरीब और निस्सहाय व्यक्ति के प्रति कैसा व्यवहार होता है इसका उन्हें अनुभव हुआ था। उन्हें अनुभव हुआ था कि इस देश में सभ्यता और

संस्कृति की पहिचान व्यक्ति के आचरण, चरित्र और शील से नहीं वरन् उसके वस्त्रों और बाहरी दिखावे से होती है। बाह्याडंबर से ही व्यक्ति गणमान्य और पूज्य माना जाता है। पुनःलड़खड़ाते कदमों से वे आगे बढ़े। लोगों की उत्सुकता भरी निगाहें उन पर छा-छा जातीं। पर वे अब निर्विकार भाव से बढ़े जा रहे थे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब किसी के सामने हाथ नहीं फैलायेंगे। वे प्रभु ही, जो उन्हें यहाँ ले आये हैं, उनकी देखभाल करेंगे। वेही मार्ग दर्शन करेंगे।

थकावट से चूर-चूर होकर आखिर उनसे चला न गया और वे एक भवन की सीढ़ियों पर बैठ गए। कैसी लीला है प्रभु की ? कैसा खेल है उसका ? कल तक कहाँ उन्होंने बड़े-बड़े प्रासादों में निवास किया था और आज दर-दर भटक रहे हैं। कल ही की तो बात है, इस देश के बड़े दार्शनिकों और विचारकों ने उन्हें अपने निवासस्थान पर आमंत्रित कर गौरव का अनुभव किया था और आज उन्हें इस तरह अपमानित हो दर-दर भटकना पड़ा है। पर उनके शान्त गम्भीर मुख पर अवसाद का लेश-मात्र भी नहीं है। वही चिर मंद मुस्कान उनके क्लान्त मुख से बिखर रही है। उनकी वे अद्भुत आँखें जिनमें गजब की चमक समाई है मानों बिजली कौंधती हो, हर किसी को अपनी ओर खींच लेती हैं। लोग इस अजनबी को देख ठिठक से जाते हैं। पर उन्हें इसका भान नहीं है। वे अपने आप में डूए हुये हैं। सारी बीती

घटनाएँ मानों आँखों के सामने झूल रही हैं। कल की ही तो बात है। अनजाने-अपरिचित वे इस देश में पहुँचे थे, शिकागो में होनेवाले विश्वधर्म-सम्मेलन में भाग लेने। पर न उनके पास अपने धर्म का प्रतिनिधित्व करनेके लिए न कोई परिचय-पत्र था और न आयोजकों के नाम ही कोई पत्र। कितनी निराशा हुई थी उन्हें यह सुनकर कि उन्हें धर्म सभा में भाग लेने का अवसर नहीं मिलेगा। शिकागो के भीषण खर्च से घबराकर उनका बोस्टन को रवाना होना, ट्रेन में श्रीमती सेनबोर्न से भेंट होना और उनकी बातों से प्रभावित होकर श्रीमती सेनबोर्न का उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित करना—क्या यह ईश्वरीय कृपा नहीं थी? उन्हींके द्वारा तो उनका परिचय उस देश के कतिपय विद्वानों से हो पाया था। और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के प्रोफेसर डा० राइट और उनकी पत्नी तो मानों ऋषि-दंपत्ति तुल्य ही थे। प्रथम परिचय में ही उन्होंने उन्हें स्नेह डोर में बाँध लिया था। यह जानकर कि डा० राइट का परिचय विश्वधर्म-सम्मेलन के आयोजकों से है, उन्होंने जब उनसे अपने लिये एक परिचय-पत्र देने की प्रार्थना की थी तो राइट साहब ने कहा था, "To ask you for credentials, Swami, is to ask the Sun its right to shine." (स्वामीजी आपसे परिचय-पत्र की माँग करना ठीक वैसा ही है; जैसे सूरज से पूछना कि उसे चमकने का क्या अधिकार है?) और उन्होंने

धर्मसभा के आयोजकों को लिखा था कि विद्वत्ता में इस व्यक्ति की बराबरी हमारे समस्त विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक मिलकर भी नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, यह जानकर कि उनके पास पर्याप्त राशि नहीं है, उन्होंने शिकागों के लिए प्रथम श्रेणी का एक टिकिट भी खरीद दिया था। उसने परिचयपत्र लेकर वे शिकागो के लिए रवाना हुए थे। कितनी प्रसन्नता हुई थी उन्हें कि अब धर्मसम्मेलन में वे अपने धर्म का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे। पर प्रभु को कुछ और ही मंजूर था। शिकागो स्टेशन में भीषण भीड़ थी ! मानों सारा शहर ही उमड़ पड़ा हो। भीड़ की इस रेल-पेल में उनका यह परिचयपत्र न जाने कहाँ खो गया। उनका वह सहयात्री भी, जिसने उन्हें धर्मसभा के अध्यक्ष के पास पहुँचाने का आश्वासन दिया था, इस भाग दौड़ में जाने कहाँ गायब हो गया। वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो खड़े रहे। धर्मसभा में भाग लेने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गईं। जिससे भी पूछते वही बहाना बनाकर चल देता। किसी को फुरसत न थी जो उनकी बात धैर्य से सुनता। स्टेशन के बाहर शहर के उत्तरी पूर्वी भाग में जर्मनों की बस्ती थी, जो अँग्रेजी समझ नहीं पाते थे। उन्होंने उधर जाकर समीपवर्ती किसी होटल का पता लगाने की कोशिश की। परन्तु असफल रहे। सन्ध्या का अन्धकार घनीभूत हो रात्रि की कालिमा में पर्यवसित हो चुका। ठंड का प्रकोप बढ़ रहा था। निराश हो वे पुनः स्टेशन

की ओर लौटे। यार्ड के बाहर लकड़ी का ख़ाली डब्बा पड़ा हुआ था। उसके अन्दर ही उन्होंने रात बिताने की सोची क्योंकि उस कड़कती ठंड में बाहर रहना मानों मृत्यु को निमंत्रण देना था। रातभर उसके अन्दर दुबक कर पड़े रहे। "कैसा अद्भुत अनुभव था वह," वे मन ही मन कह उठे। अचानक उनकी दृष्टि सामने के भवन की खिड़की की ओर गई। उन्होंने देखा, एक लावण्य-मयी महिला एकटक उनकी ओर निहार रही है। उनकी दृष्टि नीचे हो गई। कुछ देर एक मृदु स्वर उनकी कानों में गूँज गया, "क्या आप विश्वधर्म सम्मेलन के प्रतिनिधि हैं?" उन्होंने देखा, वही महिला उनके सामने खड़ी है। उसकी आँखों से जिज्ञासा झाँक रही है। चेहरे से कमनीयता और ममता झलक रही है। उनके स्वीकारात्मक उत्तर देने पर उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। "आपका नाम क्या है? कहाँ से आये हैं?' किस धर्म के प्रतिनिधि हैं?" उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया कि वे स्वामी विवेकानन्द हैं। हिन्दू धर्म का प्रति-निधित्व करने आये हैं। परिचयपत्र के खो जाने के कारण भटकते हुये यहाँ आ पहुँचे हैं। उनकी निश्चल वाणी और बाल सुलभ सरलता देखकर वह महिला बहुत प्रभावित हूई और उसने आग्रह किया कि वे उसके यहाँ चलकर विश्राम करें। उसने यह भी कहा कि धर्म-सम्मेलन के अध्यक्ष से उसका परिचय है और वह उनकी मुलाकात अध्यक्ष से करा देंगी। अंधा क्या चाहे दो

आँखें। ईश्वर की यह अप्रत्याशित महती कृपा देख वे विह्वल से हो गये। अब उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि हर क्षण प्रभु का वरद हस्त उन पर विद्यमान है। वे ही जाने या अनजाने उनका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। उस महिला के आमन्त्रण को प्रभु की इच्छा मानकर वे उसके साथ चले आये।

उस महिला ने शीघ्र ही उनके रहने की व्यवस्था एक सुसज्जित कमरे में कर दी और नौकरों को उनकी सुख-सुविधा का पूरी तरह ख्याल करने की आज्ञा दी। शीघ्र ही वे उस परिवार से हिल-मिल गये। भोजन के समय जब वे अपनी गाथा सुनाते, लोग दत्तचित्त हो सुनते रहते। उनकी वह मधुर वाणी, निर्झरिणी की सी निर्मल हँसी लोगों को मन्त्रमुग्ध कर लेती। अपने ऊपर बीती हुई कठिनाइयों और दुःखों की चर्चा वे ऐसे सहज भाव से, मनोरंजक ढंग से करते, मानों वे घटनाएँ उन पर नहीं, दूसरों पर बीती हों और वे उनके दर्शकमात्र रहे हों।

(२)

स्वामी विवेकानन्द ३१ मई १८९३ को 'पेनिनसुला' नामक जहाज से अमेरिका के लिए रवाना हुए थे। खेतड़ी के दीवान जगमोहनलाल और मद्रास के आलासिंगा पेरूमल उन्हें विदाई देने बंबई पहुँचे थे। खेतड़ी के महाराजा उनके शिष्य थे। उन्होंने उनकी यात्रा का समस्त प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया था और अपने दीवान

को हिदायत दी थी कि वे उनकी जरूरत की सभी वस्तुओं का व्यवस्था कर दें। उनके लिए उन्होंने सिल्क का गेरुआ अँगरखा और पगड़ी विशेषरूप से तैयार करायी थी। इस वेष-भूषा में स्वामीजी राजकुमार से प्रतीत होते थे। जगमोहनलाल ने उनके लिए बहुत-सा सामान खरीद दिया था। यात्रा में उपयोगी सभी वस्तुएँ बहुतायत से रख दी थीं। पर इनकी देखभाल करना स्वामीजी के लिए बड़ा कठिन काम था। अब तक वे वीतराग सन्यासी निर्द्वन्द विचरते रहे थे। सामान के नाम पर दो-चार पुस्तकें, उनका दंड और कमंडल बस यही उनके पास रहा था। पैसा तो अपने पास वे रखते ही न थे। पर अब इन सबकी व्यवस्था करनी पड़ रही थी। वे ऐसा महसूस कर रहे थे मानो बन्धन में पड़ गये हों।

जहाज का भोंपू बजा। जगमोहनलाल और आलासिंगा के नेत्र भर आये उन्होंने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया स्वामीजी की आँखें भी गीली हो आईं। उनसे विदा ले वे जहाज पर चढ़े। सागर के वक्ष को चीरता हुआ जहाज गंतव्य की ओर बढ़ चला। स्वामीजी अश्रुपूर्ण नेत्रों से मातृभूमि की ओर ताकते खड़े रहे। वह शस्यश्यामला भूमि, अनादि काल से ऋषियों और मनीषियों का साधना स्थल, अवतारों का लीला-केन्द्र, धर्म और कर्म का एकमात्र क्षेत्र उनकी आँखों से दूर होता जा रहा था। त्याग-तपश्चर्या और तितिक्षा के स्थल से वे भोग, विलास और वैभव के केन्द्र में जा

रहे थे। रह-रहकर उन्हें गंगा यमुना अठखेलियों की, चिर शुभ्र हिमाच्छादित शैलशिखरों की, और उनके वक्ष में छिपे हुए सुरम्य कान्तारों की, जिनकी तनहाइयों में उन्होंने विचरण किया था, याद आ रही थी। अब न मालूम कब उनके पुनः दर्शन होंगे। न मालूम कब पुण्य-सलिला भागीरथी की स्नेहिल थपकियाँ पाकर धन्य होंगे। वे तीर्थ उनकी आँखों के सामने चित्रपट के चित्रों की नाईं भूलने लगे थे जिन्होंने, न जाने किस अतीत से, देश की आध्यात्मिक संपदा को सँजोया और संभाल कर रखा था। वे आज भी शत-शत नर-नारियों के धार्मिक और आध्यामिक भावों का अक्षय दान कर रहे थे। वे महा-पुरुष, जो इस भारत-गगन में देदीप्यमान नक्षत्रों की भाँति उदित हुए थे और अपने प्रेम, ज्ञान तथा भक्ति की निर्मल आभा से सारे देश को आलोकित किया था, रह-रहकर उनकी स्मृतियों में आते रहे थे। उन सबकी वाणी उनके कानों में गूँजती रही थी। वास्तव में क्या वे स्वयं में "घनीभूत भारत" ही नहीं थे? क्या भारत की समस्त अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ उनमें साकार नहीं हो उठी थीं? क्या भारत के निवासियों की वेदना उनकी वेदना न थी और क्या उनका हास उनकी निर्मल हँसी नहीं थी? क्या भारत के पीड़ित, प्रताड़ित निवासियों के करुण क्रन्दन ने उनके हृदय को मथित नहीं किया था? विदेशी शासकों द्वारा इस देश के मर्मस्थल धर्म और संस्कृति पर जो निरन्तर आघात किये गये थे,

उसने क्या इनके हृदय को चूर-चूर न कर डाला था ? सारे देश की व्यथा उनके हृदय में स्पंदित हो उठी थी। तभी तो कुछ ही दिन पहले जब उनकी भेंट अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द जी से आबू रोड स्टेशन पर हुई थी, तो उन्होंने रुँधे हुए स्वर में कहा था, "हरि भाई, मैं अभी तक धर्म किसे कहते हैं, समझ नहीं पाया हूँ। पर हरि भाई," अपने हाथों को अपने हृदय पर रखते हुए गहरी वेदना से व्यथित हो वे बोले, "मेरा हृदय बहुत विशाल हो गया है। मैंने दूसरों के दुखों और कष्टों का अनुभव करना सीख लिया है। विश्वास करो, हरि भाई ! मैं बड़ी तीव्रता से यह अनुभव कर रहा हूँ।" यह कहते हुए उनका गला भर आया था और वे फूट-फूट कर रोने लगे थे। सारे वातावरण में एक अद्भुत नीरवता तैर गई थी मानों किसी ने करुण तान छेड़ दिया हो। उनकी यह अवस्था देखकर तुरीयानन्द जी अवाक् हो गए थे। उन्हें लगा था, क्या यह बुद्ध की ही वाणी और अनुभूति नहीं है ? मानवता की कराह क्या उनके माध्यम से ध्वनित नहीं हो उठी है ?

सचमुच में देशबासियों की दयनीय दशा को देखकर उनका हृदय हाहाकार कर उठा था। कन्याकुमारी के उस एकाकी शिलाखंड पर बैठे हुए सारे भारत का चित्र उनकी आँखों के सामने खिंच गया था। उन्होंने देखा था कि सारा देश तथाकथित शिक्षित वर्ग और धर्म के ठेकेदारों के अत्याचार का शिकार है। एक ओर पाश्चात्य

शिक्षा दीक्षा में शिक्षित वर्ग है जो पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक में अपने धर्म और संस्कृति को भुला बैठा है और बिदेशियों के अन्धानुकरण में ही अपना गौरव समझने लगा है। ये लोग धर्म को बकवास और धर्मग्रन्थों को विकृत मस्तिष्क की उपज कहते हैं। दूसरी ओर धर्म के ठेकेदारों का वर्ग है जो क्रिया-अनुष्ठानों को ही धर्म मानता है और लोकाचारों एवं वाह्याडम्बरों को धर्म का सच्चा स्वरूप कहता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म चारों ओर से अति आधुनिकता अथवा रूढ़ियों की दीवारों में घिर गया था और मुक्त होने के लिये छटपटा रहा था। मृतप्राय लोगों में जीवन का संचार करने वाले हिन्दू धर्म के उदात्त तत्व, उपनिषदों की अमृतमयी वाणी और गीता के शाश्वत उपदेश गिरि-कन्दराओं की सम्पत्ति बन गये थे। उन्हें जनसाधारण की पहुंच के बाहर माना जाता था तथा संन्यासियों और विरक्तों की वस्तु समझा जाता था। जनसाधारण के लिए 'छुआछूत' ही एकमात्र धर्म बनकर रह गया था। ईश्वर केवल तथाकथित उच्चवर्गों का ही उपास्य था तथा वह निम्न जातियों के स्पर्श से अपवित्र बन जाता था। उच्च जातियों ने निम्नजातियों को इतना अधिक कुचल दिया था कि वे भूल चुके थे कि वे भी मनुष्य हैं। उनकी अवस्था जानवरों से भी बदतर थी। जिस धर्म में तात्त्विक रूप से सभी प्राणियों को ईश्वर स्वरूप माना गया है और मनुष्य में उसका विशेष प्रकाश देखा गया है

और जहाँ सभी मनुष्यों को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ,भेद-रहित, विकार रहित आत्मा माना गया है, उसी धर्माव-लम्बी समाज में अगर मनुष्य-मनुष्य का स्पर्श न कर सके और ईश्वर निम्नजातियों के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाये तो यह धर्म की विकृति और समाज की अधो-गति का ज्वलन्त प्रमाण था। मलाबार का भ्रमण करते समय उन्होंने अछूतों की दयनीय दशा देखी थी। उन्हें उच्चवर्ण के लोगों के घरों के समीप की सड़कों में चलने का अधिकार भी नहीं था। जब वे सड़क पर चलते थे तब उन्हें लकड़ी पटकते हुए चलना पड़ता था ताकि उच्चवर्गीय लोग सावधान हो जायें और उनकी अपवित्र छाया से स्वयं को बचा लें।

उन्हें पाण्डुचेरी के उस ब्राह्मण का स्मरण हो आया जो उनकी समुद्र-यात्रा की सूचना सुनकर उनके पास आया था तथा जिसने समुद्र-यात्रा को शास्त्रविरुद्ध और निषिद्ध घोषित किया था। किन्तु जब स्वामीजी ने शास्त्रों के प्रमाणों के द्वारा उसके कथन को मिथ्या सिद्ध कर दिया और जब उसे यह बताया कि संन्यासी के लिये कोई बन्धन लागू नहीं होते, क्योंकि वह जाति और धर्म से परे होता है, तब वह पुराणपंथी झल्ला कर चिल्लाने लगा था कि "ऐसा नहीं हो सकता—ऐसा नहीं हो सकता।"

देशवासियों की यह दुर्दशा देखकर स्वामीजी व्यथित हो उठे थे। कन्याकुमारी के शिलाखण्ड पर बैठकर वे

गम्भीर चिन्तन में लीन हो गये थे। वे सोच रहे थे कि क्या भारत के उत्थान का कोई उपाय है? क्या वह हमेशा पददलित ही रहेगा? क्या इस पराधीन, परमुखापेक्षी, बलवान के सामने भेंड़ के समान मिमियाने वाली और निर्बलों पर शेर के समान झपटने वाली जाति को ऊपर उठाने का कोई उपाय है? उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया था। देशवासियों की सहायता के लिये उन्होंने बड़े-बड़े अमीरों, राजाओं और महाराजों के द्वार खटखटाए थे। पर उन्हें मौखिक सहानुभूति के अलावा उनसे कुछ भी नहीं मिला। वे समझ गये थे कि इनसे पैसा निकालना मानों पत्थर से तेल निकलना है। किन्तु उन्हें इस तत्व का बोध हो गया था कि देश अभी भी जीवित है, मृतप्राय जाति के भीतर अभी भी जीवनी शक्ति स्पन्दित हो रही है। मानों रूढ़ियों और अशिक्षा की स्तूपाकार राख के भीतर धर्म की अग्नि छिपी हुई है। इस राख को हटाते ही अग्नि धधक उठेगी और अन्य समस्त दुर्गुणों को जलाकर हिन्दू जाति को उसके प्राचीन गौरवमय पद पर प्रतिष्ठित कर देगी। किन्तु इस कार्य के लिये देशवासियों में शिक्षा का व्यापक प्रसार करना होगा और अपार धन की आवश्यकता होगी। पर धन कहाँ से आयेगा? जब उस युवा संन्यासी के मस्तिष्क में विद्युत् के समान एक विचार कौंध गया था—"मैं विदेश जाऊँगा और अपने मस्तिष्क के बल पर इस कार्य के लिये धन जुटाऊँगा।"

और प्रभु की इच्छा से वे आज अपनी योजना को साकार करने जा रहे हैं। सारा भारत उनमें साकार हो गया है। भारत उनके सामने अब विघटित राष्ट्र या बिखरी हुई इकाइयों के समूह के रूप में नहीं आता। वे देख रहे हैं कि भारत एक संगठित राष्ट्र-चेतना है तथा धर्म की भित्ति पर टिका हुआ है। धर्म ही भारत का प्राणकेन्द्र है। वे इसी सनातन धर्म का प्रचार करने जा रहे हैं। भोग के हलाहल-प्रभाव से पीड़ित पश्चिमी जनता को वेदान्त की सुधा-धारा का पान कराने के लिये युगाचार्य जा रहे हैं जिनमें सारा भारत समाहित हो गया है।

रात में जब कि चराचर जगत् सोता है, केवल दण्ड जागता रहता है। —अज्ञात

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

—जिस मनुष्य को अपनी बुद्धि नहीं हो, उसके लिए शास्त्र बेकार है, जैसे दोनों आँखों से रहित अन्धे मनुष्य दर्पण क्या करेगा।

—हितोपदेश

सन्त तारण-तरण--एक श्रद्धांजलि

डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

(सागर में आयोजित सन्त तारण तरण जयन्ती के अवसर पर पठित प्रबन्ध ।)

सबसे पहले मैं उस कालजयी महात्मा तारण-तरण स्वामी जी के प्रति अपनी सश्रद्ध प्रणामाञ्जलि निवेदन करता हूँ जिनकी पावन जयन्ती के उपलक्ष में हम आज एकत्रित हुए हैं। महात्माओं की कृपा से दीन भी महान बनता है इस विश्वास से ही दीन होने पर भी, संयोजक महाशयों के आग्रह पर, इस अवसर में बोलने के लिए मैं राजी हुआ हूँ। आशा है, उन्हीं महापुरुष का स्मरण कर मेरे वक्तव्य में यदि कुछ सार हो तो आप ग्रहण करेंगे।

आज से ५१७ वर्ष पहले जिस महात्मा का जन्म हुआ और जो तारण-तरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए हम आज क्यों उनका स्मरण कर रहे हैं — यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। महाकाल अत्यन्त निष्ठुर और सर्वग्रासी है। फिर भी काल के ग्रास को उन्होंने जीत लिया है यह स्पष्ट है। कैसे यह सम्भव हुआ ? धन और ऐश्वर्य-सम्पत्ति से ऐसा होना सम्भव नहीं है, यह तो सर्वविदित है। स्वामीजी के पास वह कौन सा धन था जिससे उन्होंने महाकाल को ही वशीभूत कर लिया ? जो महाकाल चक्रवर्ती सम्राट तक को ग्रस लेता है और भुला देता है, उसी ने इनको अमर क्यों बना दिया ?

पञ्चभूतों का बना यह मनुष्य शरीर कितना नश्वर है— इसे तो प्रतिदिन आर्त-विलाप करने वाले हम सभी जानते हैं; पर इन्हीं मनुष्यों में बीच-बीच में कहाँ से ऐसे एक-एक प्राणी आ जाते हैं जिनका अन्त उनको बनाने वाले पाँच तत्वों — क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर — के अन्त से नहीं होता ? श्रुति में जिसे 'भीषणं भीषणानां—' भीषणों को डरानेवाला — कहकर वायु, सूर्य, मृत्यु आदि सबको डरा कर अपने अपने मार्गों पर चलाने वाला कहा गया है, वही सृष्टि की अनादि शक्ति ऐसे महापुरुषों के सामने कुण्ठित हो जाती है। उनकी भौतिक देह अवश्य नष्ट हो जाती है पर उनके पास उससे अधिक और कुछ होता है जिसको लुप्त करने की शक्ति कहीं नहीं है। इसीलिए अमर वे ही होते हैं जिनके पास भौतिक से अधिक कुछ हो। वह वस्तु इतनी मूल्यवान होती है कि सृष्टि शक्ति उसका संहार नहीं होने देती। अमर होने का यही रहस्य है। जो लोग धन, ऐश्वर्य, दवा आदि से अमर होना चाहते हैं, वे व्यर्थ के चक्कर में हैं। अमर होने के लिए इन भौतिक वस्तुओं से अधिक कुछ प्राप्त करना चाहिए। संत तारण-तरण स्वामीने — उस अधिक वस्तु को प्राप्त किया था और यही कारण है कि हम सामान्य मर्त्य लोग उनको प्रतिवर्ष स्मरण करते हैं।

महाकवि रविन्द्रनाथ ने एक कविता में लिखा है कि मनुष्य आमरण कर्म करता रहता है। इस सञ्चित कर्म को वह क्या करे—संसार को सौंप दे। संसार इस दान

को सादर ग्रहण करता है। पर मनुष्य उसी के साथ अपने अहं को भी सौंपना चाहता है पर संसार उसे नहीं लेता, उसके पास इसके लिए स्थान नहीं, क्योंकि वह रक्षणीय नहीं है। जो रक्षणीय है उसे काल भी नहीं मिटा सकता। जिनके पास ऐसी सम्पद है वे इसी प्रकार चिर-स्थायिता को, अमरता को प्राप्त करते हैं। संत तारण-तरण स्वामी वैसे ही आत्मिक ऐश्वर्य के धनी थे, अतः वे अमर हैं, युग युग में वन्दित हैं।

संत ने यह कौन साधन हमें दिया इसका भी विचार प्रासंगिक है। उन्होंने अपने जीवन को ही हमारे सामने रख दिया है। महापुरुष बीच बीच में जन्म लेकर इसी सत्य का प्रमाणित करते हैं कि मनुष्य किस ऊँचाई तक जा सकता है। हमारे देश में अनेकों महापुरुष हुए हैं, पर यह गर्वित होने का कोई कारण नहीं है। हम उसी से महान नहीं बन जाते। आदर्श को सामने रख कर हम कितने ऊपर उठ पाये हैं, यही एक कसौटी है जिस पर हमारी श्रद्धा की आन्तरिकता और सफलता परखी जा सकती है। पूर्वजों से पाई हुई सम्पत्ति का जो केवल अलस उपयोग करता है वह सार्थक व्यापारी नहीं है, परन्तु जो उसके बल पर आगे बढ़ता है वही सार्थक होता है। उसी प्रकार प्रकार महापुरुषों के जीवन से सीख लेकर हम अगर आगे बढ़ते हैं तभी हमारी सफलता सम्भव है। महापुरुषों की जयन्ती के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाते हुए मुझे तो ऐसा ही अनुभव होता है कि क्या हम

इस उल्लास के योग्य हैं ? महापुरुष केवल हमारे गौरव की ही वस्तु नहीं हैं बल्कि हमारे उत्तरदायित्व का स्मरण दिलाने वाले भी हैं।

अपना यह दायित्व संक्षेप में धर्म का पालन है। धर्म के स्वरूप के बारे में किसी भी मुनि का मत एक नहीं है तथा बहुत से लोग इस शब्द से ही घबराते हैं। पर एक बात स्पष्ट रूप से हमें समझ लेनी चाहिये कि धर्म के बिना हम क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकते। जो समझते हैं कि हम धर्म का पालन केवल शास्त्रों और महापुरुषों के प्रभाव से बाध्य होकर कर रहे हैं उनका सोचना ठीक नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि के अतिरिक्त, शुद्ध व्यवहारिक दृष्टि से भी धर्म अत्यावश्यक है। विकासवादी कहते हैं कि प्रारम्भ में धर्मबुद्धि नहीं थी। उसका फल क्या था ? मनुष्य मनुष्य नहीं था, पशु या सुव्यवस्थित जीवन यापन में असमर्थ था। जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए ही धर्म की आवश्यकता और उत्पत्ति हुई। जंगली मनुष्य ने अपनी अनन्त स्वतन्त्रता को त्याग दिया और स्वेच्छा से धर्म के बन्धन को मान लिया। इसी त्याग से धर्मबुद्धि का प्रारम्भ हुआ है। यह स्वार्थ त्याग बृहत् मानव समाज के लिए था। समष्टि के कल्याण के लिए अपने व्यक्ति स्वातन्त्र्य को छोड़ने की इस बुद्धि में ही धर्म का मूल निहित है।

इसी लिए धर्म का प्रमुख स्वरूप सार्वभौम है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि जो दस लक्षण

यम और नियम के प्रतिपादित हैं, उनके साथ किसी भी धर्म का विरोध नहीं है। वैदिक धर्म की दोनों धाराएँ-पौराणिक तथा स्मार्त. जैन, बौद्ध आदि भारतीय सभी धर्म बाहर से आये हुए जरथुस्त्री, इमलामी, खृष्टीय आदि धर्म इन सब में सर्वत्र ये मौलिक तत्त्व मिलेंगे। जो सिद्धांत इन मौलिक तत्त्वों पर आधारित नहीं है, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्म के इस सार्वभौम रूप के साथ-साथ उसका एक साम्प्रदायिक रूप भी है जो कहता है कि जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही मार्ग है। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अलग-अलग मार्ग के समान है। मार्गों में भिन्नता होने पर भी लक्ष्य अभिन्न है — इस परम सत्य का ध्यान हमें बिशेष रूप से रखना चाहिए। धर्मपालन से आत्मनाश नहीं होता, वस्तुतः आत्मसिद्धि होती है। अगर हम मार्ग को लेकर लड़ाई करें तो हमारा नाश अनिवार्य है। पहुँचना मुख्य है। कवि ने कहा - नदी के उस पार जाना है, किस नाव से वहाँ पहुँचा उसका गर्व बेकार है। गर्व न हो, पर नाव की उपयोगिता तो है ही।

सृष्टिकर्ता केवल विशुद्धज्ञानमय ही नहीं हैं; वे कवि भी हैं। इसीलिए संसार में इतना वैचित्र्य है। मनुष्यत्व की तो यही परीक्षा है कि अपने अपने मार्ग पर चल कर भी हम सृष्टि की शृङ्खला का भंग न करें।

साम्प्रदायिक धर्म में सम्प्रदाय के प्रति अत्यधिक आकर्षण होता है। मौलिक सिद्धान्त के एक होने पर भी अलग अलग सम्प्रदाय अपनी अपनी कुछ विशेषता रखते हैं जिसे हम धर्म का आचार-पक्ष कह सकते हैं। ये आचार मूलतः सामयिक तत्त्वों पर आधारित होते हैं। कालान्तर में उन तत्त्वों के चले जाने पर भी वे आचार बने रह जाते हैं और धर्म में आडम्बर उपस्थित करते हैं। युग-युग में महापुरुष और सन्त आविर्भूत होकर, धर्म को हर आडम्बरों से मुक्त कर फिर से उसके सर्व-कल्याणमय स्वरूप को उज्वल बना देते हैं। संत तारण-तरण स्वामी ने धर्म के उसी निराडम्बर शुद्ध स्वरूप को फिर से उद्घाटित किया है और इस प्रकार धर्म के सनातन रूप को प्रतिष्ठित किया है। उनकी वाणी और आदेशों से जो परिचित हैं वे जानते हैं कि धर्मपालन के मार्ग को किस प्रकार उन्होंने सर्वसाधारणके लिये उपयोगी बनाया और समाज को सुसंघटित होने में सहायता प्रदान की।

भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में ऐसे महापुरुषों के जीवन से हम सीख लें यह एकान्त आवश्यक है। इहलौकिक अभ्युदय और मोक्ष — दोनों धर्म के द्वारा ही सम्भव हैं। यह धारणा यथार्थ या युक्तियुक्त नहीं है कि धर्म केवल मोक्ष का ही साधक है। जिसका इहलौकिक जीवन शुद्ध नहीं है उसे मोक्ष कैसे मिलेगा ? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म को — जिसे हम "वृहत्तर स्वार्थ के लिए अपने स्वार्थ का संयम" कह सकते हैं — प्रतिष्ठित

करना पड़ेगा। तभी धर्म के द्वारा मनुष्य का अभ्युदय सम्भव होगा और हमारी सिद्धि इहलोक में तथा परलोक में हो सकेगी। मिथ्या से, अधर्म से, बेईमानी से जरूर अभ्युदय हो सकता है, पर वह अभ्युदय हमें अमर नहीं बना सकता है। से लोग द ो घण्टे के लिए अमर हो सकते तक, अनन्त काल तक अमर होने के लिए धर्म के उस मार्ग को अपनाना पड़ेगा जो मार्ग श्री तारण-तरण स्वामी तथा इसी प्रकार के अन्य सन्तों ने अपनाया था। हम इस सत्य को हृदय से सत्य समझें—

अधर्मणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अधर्म से मनुष्य बढ़ता है, सुख को पाता है, फिर शत्रुओं का भी मारता है, पर अन्त में जड़ से विनष्ट हो जाता है।

हम बनें रहें, हमारा राष्ट्र समृद्ध हो, सारा देश सभी दिशा में उन्नति करें इसके लिए धर्म को अन्तर से अपनाना जरूरी है। और यह धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं हो सकता, आडम्बरों का नहीं हो सकता — वह तो सन्तों से जीवन के द्वारा प्रतिपादित शुद्ध मानवधर्म ही हो सकता है। हमारे श्रद्धेय सन्त तारण-तरण स्वामी ने जिस भाव संशुद्धि का, अनाडम्बर धर्म का निर्मल मार्ग दिखाया है, उसके प्रति हम अन्तर से श्रद्धाशील बनें।

सनातन धर्म

श्री घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

वह तत्त्व जो सनातन होता है, देश काल और पात्र की सीमा में आबद्ध नहीं होता। वह भूत-वर्तमान-भविष्यत् तीनों कालों में, पृथ्वी-अंतरिक्ष-द्युलोक तीनों लोकों में, और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अपनी सत्ता से सृष्टि के समस्त प्राणियों को धारण करता हुआ स्थित है। चूँकि इस धर्म के तत्त्वों का अन्वेषण आज से सहस्रों वर्ष पूर्व आर्यों (हिन्दुओं) ने किया था, इसलिये इसे आर्य धर्म अथवा हिन्दू धर्म भी कहते हैं। आर्यावर्त्त जो कालान्तर में भारत के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उनका वास-स्थान था। आर्यों की धार्मिक चेतना का प्रभाव उस युग में सुदूर देशों तक फैला हुआ था।

विकास-क्रम से उन आर्य लोगों के बीच में कुछ मेधावी और चिन्तनशील पुरुषों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने धर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मण्डल में प्रवेश कर नानाविध सत्यों का आविष्कार किया। उन्हें 'ऋषि' की संज्ञा दी गयी। मानो वे इस विशिष्ट कार्य-सम्पादन के लिये ईश्वर के द्वारा पृथ्वी पर भेजे गये देव-मानव थे। तत्कालीन समाज में उनका बड़ा आदर-सम्मान था। राज-कुलोंमें भी उनकी पूजा होती थी। वे सत्य जो उनकी सामाजिक

एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों में प्रकट हुए थे, संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध किए गये और उन सत्यों का संचित कोष 'वेद' कहलाया। वेद-वाक्य ऋचा, सूक्त और मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। चूँकि उनकी रचना-शैली काव्यात्मक थी, अतः उन्हें 'छन्द' भी कहा गया।

महर्षि कृष्णद्वैपायन (व्यास देव) ने वेद को चतुर्विभागीय ग्रन्थ-रूप प्रदान किया। वे चारों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से विख्यात हुए। ये ही सनातन धर्म के मूल ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के अन्य बहुतेरे ग्रन्थ हैं, जिनमें उपवेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण और स्मृतियाँ मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में धर्म तत्त्व का बड़ा सुन्दर विवेचन मिलता है।

वेद अपौरुषेय माने जाते हैं, क्योंकि वे श्री भगवान नारायण के द्वारा सर्वप्रथम ब्रह्मा को उपदेश रूप में प्राप्त हुए थे। निम्नलिखित मन्त्र से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाञ्श्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवं आत्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
कृष्ण यजुर्वेद-श्वेता० उ० ६-१८

'जो सृष्टि के प्रारम्भ में सर्व प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक परमात्मदेव की मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ।'

प्रजापति (ब्रह्मा) ने श्री भगवान से जैसा सुना वैसा

ही अपनी सृजनशक्ति से उत्पन्न पुत्रों (सनत्कुमार, मरीचि और वशिष्ठादि) के प्रति उस वेद-विद्या का वर्णन किया। सनत्कुमार से नारद और वशिष्ठ से पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पादाचार्य और शंकराचार्य प्रभृति तत्वज्ञों को क्रमशः वह वेद-वर्णित ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई। दूसरी शाखा ब्रह्मा से अथर्वा, आंगिर, भारद्वाज, अंगिरा और शौनक की ओर उत्तरोत्तर प्रसृत हुई। इसीलिए वेद 'श्रुति' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। चूँकि यह ब्रह्मविद्या जो पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य परम्परा से जगत में उतरी, सनातन धर्म का हृदय है, अतः यह धर्म अन्य धर्मों के समान किसी एक महामानव के द्वारा किसी कालविशेष में प्रवर्तित नहीं हुआ। स्वयं श्री भगवान ही इसके प्रवर्तक हैं, इसलिए अनन्त कल्पों से अनन्त सृष्टियों में यह विश्व का धर्म बनता चला आ रहा है, अर्थात् इस सृष्टि के आदि से ही यह धर्म विश्व को धारण कर रहा है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि वेद-काल में ऋषियों ने समष्टि मानव के कल्याण के लिए पृथ्वी पर इसका अवतरण किया था। सनातन धर्म ही संसार का प्राचीनतम धर्म है, यह अत्युक्ति नहीं।

यह निश्चित है कि धरती पर धर्म-जागरण वेद-काल के पूर्व अत्यन्त अस्पष्ट रूप में था। भारत जब सभ्यता और उन्नति के शिखर पर आरूढ़ था तब विश्व का अधिकांश भाग अविकसित मानवता को लेकर अंधकार में डूब रहा था। लगभग अन्य सभी धर्म वेद-काल के बाद में

ही आविर्भूत हुए। ये धर्म-सम्प्रदाय सनातन धर्म के ही विभिन्न अंगोपांग है। सनातन धर्म उस विशाल वृक्ष के समान है जिसका मूल ब्रह्म है और अन्य सभी धर्म-सम्प्रदाय उसकी पुष्पित-पल्लवित वृन्त-शाखाएँ हैं। वेदों में धर्म-तत्व के जिन सिद्धान्तों का वर्णन है, वही सिद्धान्त अन्य धर्मों के धर्म-ग्रन्थों में भी विभिन्न भाषाओं में विविध प्रकार से वर्णित हैं। कुछ भी वेदों के बाहर से नहीं आया। उदाहरणार्थ कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के इन वाक्यों को देखिये—

'सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।'

'सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य देने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। तुम मातृदेव (माता है देव जिसका वैसा) होओ। पितृदेव होओ। आचार्य देव होओ। अतिथि देव होओ।'

वेदाध्ययन सम्पन्न कराने के अनन्तर गुरु शिष्य को यह उपदेश देता है। ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ऐसा उपदेश गुरु से शिष्य को मिलता था जीवन को सुखैश्वर्यपूर्ण एवं भगवन्मुखी बनाने के लिए। धर्माचरण का कैसा सुनियोजित स्वरूप है यह! भला विश्व का कौन ऐसा धर्म है जो इन बातों की शिक्षा नहीं देता। यह गौरव की बात है कि सर्वप्रथम वैदिक

ऋषि ने इनका अनुभव किया था। प्रायः सभी धर्मप्रवर्तकों ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से वेदों का ही आश्रय लेकर अपने-अपने धर्म-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की थी। वेद सर्वव्यापी भगवान के स्वरूप हैं, अतः ईश्वरवाद, निरीश्वरवाद, द्वैतवाद और अद्वैतवाद ये सभी उन वेदों से ही मानव-बुद्धि-कौशल के फलस्वरूप युग-युग में प्रकट हुए। इनसे बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म; शांकर, रामानुज, माध्व, निम्बार्क और बाल्लभ सम्प्रदाय; राधास्वामी और आर्य समाज; शैव, वैष्णव, तंत्र और शाक्त मत आदि अनेक धर्म-मत-सम्प्रदाय उदित हुए। किंबहुना, पारसी, मुस्लिम और ईसाई धर्मों पर भी वेदों की छाप मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक मन्त्र 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' पारसियों में 'नास्त इज़ाद मगर मज़दां' और मुसलमानों में 'ला इल्लाह इल्लिल्लाह' पवित्र कलमा बन गया है। जिस धर्माचार्य ने उस अनन्त भगवत्तत्व को जहाँ तक समझा वहाँ तक उन्होंने उसका प्रचार कर एक युगधर्म का प्रवर्तन कर दिया। इस प्रकार धरती पर आज अनेक धर्म फूल-फल रहे हैं।

सनातन धर्म का प्राण-केन्द्र ईश्वर है। सनातन धर्मावलम्बी का यह विश्वास है कि ईश्वर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सदा धर्म की रक्षा करता रहता है। सामान्यतः वह अप्रकट रहकर ही धर्म की रक्षा करता है, परन्तु जब धर्म की ग्लानि और अधर्म को वृद्धि होने लगती है, आसुरी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित पापाचार प्रचंड रूप

धारण कर लेता है, तो ऐसे विषम काल में उसे धर्म की संस्थापना के लिये तथा दुष्टों का दलन कर सत्पुरुषों की रक्षा के लिये देह धरकर पृथ्वी पर अवतरित होना पड़ता है। इसी को अवतार कहते हैं। शास्त्रों में यह अवतारवाद के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

गीता ४।७-८

'जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब हे भारत! मैं अपने को रचता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए, एवं धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।'

इस आधार पर भारतवर्ष में सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक अनेक अवतार हो चुके हैं। उनमें मत्स्य, कच्छप, बाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, शंकर, रामानुज, बल्लभ, नानक, ज्ञानेश्वर, चैतन्य देव और श्रीरामकृष्ण प्रभृति अवतार प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। विदेशों में ईसा, मुहम्मद और जरथुस्त्र आदि जो युग पुरुष अवतरित हुए हैं वे भी अवतारों की ही गणना में हैं। सच्चा धर्मावलम्बी उनके प्रति भी श्रद्धा और भक्ति

की भावना रखता है। यही सनातनधर्म की महत्ता है। अपनी महानता के कारण ही यह धर्म सदियों से भीषण आघात-प्रतिघातों को सहन करता हुआ भी इस युग में अपना मस्तक ऊँचा किये कीर्ति-स्तम्भ के समान खड़ा है। आधुनिक काल में विश्व के अन्य देशों (अमेरिका, इंगलैण्ड और फ्रान्स आदि) में इस धर्म को जो सम्मान प्राप्त हुआ है उसका श्रेय स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और योगी अरविन्द प्रभृति युगाचार्यों को है। इस क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। आजकल उन देशों में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव और स्वामी विवेकानन्द के लाखों भक्त हैं जो सनातन धर्म के प्रति गम्भीर श्रद्धा-भाव रखते हैं।

धर्म के सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन के विख्यात सूत्रकार महर्षि कणाद कहते हैं— 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो वह धर्म है। इस सूत्र का वेद के साथ गहरा सामञ्जस्य है। अभ्युदय का अर्थ है इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति। इहलौकिक सुख जीवन में समृद्धि और ऐश्वर्य से प्राप्त होते हैं तथा पारलौकिक सुख मरणोपरान्त स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। अभ्युदय मानव-जीवन की शोभा बढ़ाता है। इसका एक मात्र साधन कर्म है। कर्म ही के द्वारा मनुष्य धन-सम्पत्ति एवं सुख-सामग्रियों का उपार्जन करता है और उन्हें आजीवन भोगता है। इससे वह समृद्धिशाली कहलाता है। अपनी धन-सम्पत्ति का

कुछ अंश लोक-हित में लगाकर वह कीर्ति और ऐश्वर्य का भागी बनता है। लोकहितका तात्पर्य कूप, तड़ाग, औषधालय, विद्यालय, मन्दिर और धर्मशालादिके निर्माण एवं दान से है। ऐसा कर्म वेदों में पूर्त (स्मार्त) कर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त वह यज्ञ-यागादि और अग्नि-होत्रादि कर्मों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है। फलस्वरूप मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग में स्थान मिलता है। वेदों में ऐसे कर्म इष्ट (श्रौत) कर्म कहे गये हैं। इस प्रकार इन इष्ट-पूर्त कर्मों के द्वारा मनुष्य को अभ्युदय की सिद्धि होती है। ये कर्म पुरुषार्थ-उपासना-मिश्रित और फलाफल-युक्त हैं। वेदों का पूर्व भाग एतादृश कर्मानुष्ठानों से परि-पूर्ण होने के कारण कर्म-काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। यह धर्म का प्रवृत्ति-मार्ग है।

अब निःश्रेयस के सम्बन्ध में चर्चा प्रारम्भ होती है। निःश्रेयस का अर्थ है मोक्ष अर्थात् संसार के आवागमन से मुक्त होकर ईश्वर में विलीन हो जाना। इसे ही कैवल्य पद अथवा परम गति भी कहते हैं। इसी से मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। ऐसा निःश्रेयस का अधिकारी पुरुष धन्य है। स्कन्द पुराण में कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपार संवित्सुख सागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

"जिस पुरुष का चित्त इस अपार सुख के सागर पर ब्रह्म में लीन है, उसका कुल पवित्र हो गया, जननी कृतार्थ हो गयी (यानी उसका पुत्र-जन्म देना सफल हो गया) तथा

उसके द्वारा वसुन्धरा (पृथिवी) भी पुण्यवती होगयी।'

ऋषियों ने देखा कि मनुष्य को अभ्युदय-सिद्धि तो हुई, पर जन्म-मृत्यु रूपी दुःख-चक्र से निवृत्ति नहीं हुई। क्योंकि स्वर्गादि भोगों को भोगने के पश्चात् पुण्यफल क्षीण होने पर फिर उसे संसार-सागर में डूबना-उतराना पड़ता है। स्वर्ग-सुख भी अन्तवान हैं। अथर्ववेद की निम्नलिखित श्रुति में स्पष्ट रूप से यह दर्शाया गया है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते ऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

मुण्डक उ० १-२-१०

'इष्ट-पूर्त कर्मों' को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले मूढ व्यक्ति अन्य किसी वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्ग लोक में अपने कर्म-फलों का अनुभव करने के पश्चात इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान भी यही कहते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकं
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देव भोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं
कामकामा लभन्ते॥

गीता ९। २०—२१

'जो वेदविहित कर्मों को करने वाले सोमरस सेवी, पाप (देव ऋण) से पवित्र पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूज-कर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्रलोक को पाकर वहाँ दिव्य भोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयी धर्म (वैदिक कर्म) की शरण हुए वे भोग-कामी पुरुष आवागमन को प्राप्त होते हैं।'

अतः बाह्य कर्मानुष्ठानों से उदासीन होकर कतिपय मनीषी उस साधन का पता लगाने में प्रवृत्त हो गये, जो उन्हें संसार के आवागमन से छुड़ा कर स्वर्ग सुख से श्रेष्ठतर एक अक्षय सुख की उपलब्धि में सहायक बन सके। स्वभावतः वे अन्तर्मुखी होते गये और इस सम्बन्ध में उन्होंने गम्भीरता पूर्वक सतत विचार-चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। एक अवस्था-विशेष में पहुँचने पर उनके अन्तःकरण में ज्ञान का उदय हुआ। ज्ञान के द्वारा उन्हें अपने ही अन्तर में सदानन्दमय अखण्ड सुख रूप भूमा (ब्रह्म) का दर्शन हुआ। वह अनिर्वचनीय स्वात्म दर्शन! इस दर्शन के आलोक में बाह्य दृश्य प्रपंच सर्वथा लुप्त हो गया और वे समाधिस्थ हो गये। समाधि-भंग होने पर जब वे पुनः प्रकृतिस्थ हुए तो वह निरन्तराखंडसुखानुभूति उनके हृदय में ज्यों की त्यों बनी रही। पा लिया उन्होंने वह चरम सत्य, जीवन का चरम लक्ष्य! यही निःश्रेयस का प्रशस्त द्वार है। उनके दिव्य व्यक्तित्व की प्रकाश-किरणें चारों

दिशाओं में फैलने लगीं और कर्मकाण्डी लोग उनके सम्मुख हतप्रभ-से हो गये। इन ज्ञानी महात्माओं की मरणोपरान्त सनातन ब्रह्म में लीनता हो जाती है। भगवती श्रुति कहती हैं—

'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥'

मु० उ० ३-२-६

मानव-जीवन का अध्याय यहीं समाप्त होता है। सर्व दुःखों की इति श्री यहीं होती है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ॥'

मु० उ० ३-२-९

वेदों का शीर्ष भाग जो आरण्यक और उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, ज्ञान से ओत-प्रोत है। इसीलिए उसे ज्ञान काण्ड भी कहते हैं। यह धर्म का निवृत्ति-मार्ग है। संन्यास का सूत्रपात इसी से हुआ था। यह वेद-प्रतिपाद्य कर्म-ज्ञान की मीमांसा सनातन धर्म का सार तत्व है।

धर्म के अन्तःस्थल में एक अद्भुत संगठन-शक्ति सन्निहित होती है जो सबके हृदय में एकात्म भाव जगा कर सभी को एक सूत्र में बाँध देती है। धार्मिक व्यक्ति विश्व के समस्त प्राणियों के साथ एकरूपता का अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के सर्वोच्च आदर्श को सहज ही अपने जीवन में उतार कर वह कृत-कृत्य हो जाता है। लोक-सेवा का महान व्रती बन कर वह समाज का परम हित-कारी सिद्ध होता है। ऋग्वेद के मन्त्रों में समाज-संगठनकी स्पष्ट झलक मिलती है—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वे संजानानामुपासते ॥
ऋग्वेद १०-१९१-२

'तुम सब मिलकर रहो। मिलकर एक बात बोलो। अपने मनमें उन बातों की एक ही व्याख्या करो। जिस प्रकार एकचित्त होकर देवगण तुम्हारे प्रदान किए हुए हव्य को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार विरोध भाव को मन से हटाकर देवताओं के समान ही हव्य-भाग का आदर करो।'

समानो मन्त्रः समितिःसमानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
ऋग्वेद १०-१९१-३

'तुम सबका मन्त्र एक हो। उसकी उपलब्धि भी सबके लिए समान हो। सबके मन, विचार और चित्त एक हों। दूसरों का हित-साधन करनेके लिए सबका एक ही सिद्धान्त हो। सबके मन में आहुति-दान की एकसमान भावना निवास करती हो।'

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋग्वेद १०-१९१-४

'तुम सबका संकल्प एक समान हो। तुम्हारी चेष्टा एक समान हो। तुम्हारे हृदय एक समान हों। तुम्हारा मन एक समान हो। तुम सबका रहन-सहन एक समान हो।'

सह अस्तित्व और संगठन का कैसा शुद्ध रूप वेद ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है! वस्तुतः समाज कल्याण की

यही कुंजी है । संगठन से समाज में पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत् होती है। कठिन से कठिन जीवन-समस्या का भी सरल समाधान निकल आता है। लोग सुख-चैन से जीवन व्यतीत करते हैं एक दूसरे का पूरक बनकर। वेद में 'पूरक' शब्द का सुन्दर भाव-चित्रण निम्नलिखित मन्त्र में मिलता है।

देहि मे ददामि ते नि मे देहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे नीहारं निहराणि ते॥

'तेरे पास जो कुछ है उसे तू मुझे देगा तो मेरे पास जो कुछ है और तेरे पास नहीं है वह मैं भी तुझे दे दूँगा। क्या तू मेरे भाग में से लेना चाहता है? तो तेरे भाग में से कुछ अंश तुझको मुझे भी देना होगा।'

सद्भावना, सदाचार और सौहार्द के वातावरण में समाज सबल और उन्नतिशील होता है। व्यक्तित्व को खंडित करने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं,और उदय होती है सच्चरित्रता और धर्म निष्ठा। राष्ट्र समाज का ही बृहद् रूप है और विश्व राष्ट्र का बृहद् रूप। अर्थात् समाज की उन्नति में राष्ट्र की ही उन्नति है और राष्ट्र की उन्नति में विश्व की उन्नति है। धर्माचरण के द्वारा पुरुष, राष्ट्र पुरुष और विराट पुरुष तीनों की ही सामूहिक उपासना हो जाती है। पुरुष की उपासना का तात्पर्य है, योग और संयम के द्वारा आत्मा की दुर्बल एवं कुत्सित प्रवृत्तियों का दमन तथा अन्तःस्थ ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति। राष्ट्र पुरुष और विराट (विश्व) पुरुष की उपासना

'सर्वभूतहिते रताः', 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त त्रय में अन्तर्निहित है। ऐसी उपासना से विश्व की द्वेषात्मक भिन्नता और जीवन-वैषम्य का क्षय हो सकता है।

वस्तुतः धर्म ही जीवन की गति है; जीवन का सौन्दर्य है। इसके बिना जीवन शुष्क, निष्प्राण और निरर्थक है। धर्म का मानव-जगत् से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जो इसकी अवहेलना करते हैं वे वास्तव से अधार्मिक हैं। अधर्म से संस्कृति नष्ट होती है। सभ्यता लुप्त हो जाती है। व्यक्ति, राष्ट्र और समस्त विश्व का पतन हो जाता है। धर्म अपनाता है, विभाजन नहीं करता। वह सबको एक में मिलाने की चेष्टा करता है। इस प्रक्रिया से अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व ऐक्य के सूत्र में बँध सकता है। व्यष्टि और समष्टि का यह दिव्य मिलन है, आत्मा में विश्व का दर्शन है। धर्म जहाँ व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के प्रति सचेष्ट है वहाँ राष्ट्र और जगत् के कल्याण के लिए भी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। यही धर्म की जगद्धारणा है। वेद का कथन है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

धर्म के आधार पर ही समग्र विश्व की सत्ता निर्भर करती है।

धर्म की ऐसी व्याख्या करने वाला परम उदार सनातन-धर्म मानव मात्र का धर्म है।

[क्रमशः]

स्वामी रामतीर्थ

प्राध्यापक रामेश्वर नन्द ।

भारत के आध्यात्मिक नवजागरण के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का कालखण्ड बड़ा महत्वपूर्ण है। बर्बर मुगल शासकों ने इस देश की जनता पर अनेक अमानुषिक अत्याचार किये और धर्म-परिवर्तन के नाम पर लाखों लोगों के प्राण ले लिये। अंग्रेजी शासन के काल में इस अत्याचार-वृत्ति का रूपान्तरण मात्र हुआ। इतिहास से सीख लेकर अंग्रेजों ने मत-परिवर्तन के लिये बल का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उनका षड़यन्त्र इससे भी अधिक भयावह था। मुगल भारतीय जनता के प्रत्यक्ष शत्रु थे और अंग्रेज परोक्ष। अंग्रेजों ने भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना पर बौद्धिक प्रहार किया। ईसाई मिशनरियों के द्वारा उन्होंने भारतीय विचारधारा और संस्कृति को ईसाइयत के समक्ष निम्न घोषित करने की कुचेष्टा की। उन्होंने दरिद्र और अशिक्षित भारतवासियों को धन, पद और प्रतिष्ठा का प्रलोभन दिखाकर बहुत बड़ी संख्या में ईसाई बनाने का अभियान शुरू किया। यह भारत का अन्धकार युग था। इस युग में केवल दरिद्र और अशिक्षित ही नहीं, पर बौद्धिक वग भी पश्चिमी चेतना से अभिभूत हो गया था। बंगाल के अनेक सम्भ्रान्त परिवार ईसाई हो

गये थे। भारतीयों के हृदय में शताब्दियों की दासता के कारण राष्ट्रीय भावना भी चिरसुषुप्त हो गयी थी और उसके जागने के कोई चिन्ह नहीं दीखते थे।

ऐसे काल में श्री भगवान् अपना वचन पूरा करने के लिये धर्म-ग्लानिकी विनाश और धर्म की संस्थापना करनेके लिये इस पुण्यभूमि में अनेक रूपों में लीला करते हैं। वे ही सन् १८३६ में बंगाल के एक छोटे से गाँव में श्रीराम-कृष्ण बनकर जन्म लेते हैं। उन्हीं के सहधर्मी और सह-कर्मी के रूप में सन् १८६३ में एक और महापुरुष का जन्म होता है जिसे हम स्वामी विवेकानन्द के नाम से जानते हैं ।- इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में आलोक-स्तम्भ के समान मार्गदर्शन करनेवाले अनेकानेक महापुरुषों का आगमन होता है। ये सभी महात्मा देश-विदेश में ज्ञान, धर्म, त्याग, प्रेम और सेवा के मंत्र का गायन करते हुए भारतीयता और हिन्दुत्व की वह प्रगल्भ सरिता प्रवाहित करते हैं जिससे राष्ट्र-जीवन की शिथिल शिराओं में पुनः शक्ति और प्राण के नये स्पंदनों का संचार होता है।

यहाँ हम एक ऐसे ही महापुरुष के जीवन पर प्रकाश डालेंगे जिन्हें सारा संसार स्वामी रामतीर्थ के नाम से जानता है। उनका जन्म २२ अक्टूबर सन् १८७३ को गुज-राँवाला जिले के मुरलीवाला गाँव में हुआ था। इनके पिता श्री हीरानन्द गोस्वामी एक गरीब पुरोहित थे। पुरो-हिताई ही उनकी आजीविका थी। आचूड़ दरिद्रता के

बीच इस बालक का पालन हुआ। जब वे एक वर्ष के थे तभी उनकी माता चल बसीं। उनके पिता एक कट्टर ब्राह्मण थे। उन दिनों बाल-विवाह की प्रथा थी। फलतः दो वर्ष की आयु में ही इस बालक की सगाई हो गयी और दस वर्ष की उम्र में उसका विवाह कर दिया गया। इसका नाम था तीर्थराम। विवाह के समय तीर्थराम प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी थे। इनके गाँव से स्कूल छः मील दूर था जहाँ वे प्रतिदिन पैदल जाया करते थे। तीर्थराम ने सन् १८८८ में गुजराँवाला के मिशन हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। उनका आगे पढ़ने का निश्चय तो था, पर आगे की पढ़ाई करना सरल नहीं था। उनके पिता इसके पक्ष में नहीं थे। पर वे अपने चाचा डा० रघुनाथमल की सहायता से कॉलिज की पढ़ाई प्रारम्भ कर सके थे।

गुजराँवाला के स्कूल में पढ़ते समय तीर्थराम अपने पिता के घनिष्ठ मित्र भगत धन्नाराम की देख-रेख में रहे। धन्नाराम उच्चकोटि के भक्त थे। वे बाल ब्रह्मचारी थे तथा योग-साधना में भी प्रवीण थे। तीर्थराम उनपर बड़ी श्रद्धा रखते तथा उन्हें ईश्वरतुल्य समझते थे। गुजराँवाला से कॉलेज की पढ़ाई के लिये लाहौर जाने के बाद भी उनकी श्रद्धा भगत धन्नाराम के प्रति बनी रही। वे सप्ताह में तीन बार उन्हें पत्र लिखते थे और छोटी-छोटी बातों में भी उनका परामर्श लिया करते थे। किशोरावस्था में ही बालक तीर्थ-राम के मन पर जो शुभ संस्कार पड़े वे भगत धन्नाराम के सत्सङ्ग के ही प्रभाव थे।

तीर्थराम का कॉलेज जीवन अतिशय मितव्ययितापूर्ण था। उन्होंने एक रुपये महीनेके किराये पर एक कमरा लिया था। तीन रुपये के खादी के कपड़े खरीदे थे और नौ आने जूतों पर खर्च किया था। भोजन पर उनका दैनिक व्यय पाँच आने से अधिक न था। उनका अधिक खर्च किताबों और लैम्प के तेल पर होता था। कॉलेज के हलवाई श्री झाड़ूमल उनसे विशेष स्नेह रखते थे तथा प्रायः निःशुल्क भोजन करा देते थे। जिस कमरे में वे रहते वह स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था तथा उसमें साँप-बिच्छू भी निकला करते थे, पर गरीबी के कारण वे कॉलेज-छात्रावास या किसी दूसरे स्थान पर नहीं रह सकते थे। मैट्रिक की परीक्षा में उनका ३८ वाँ स्थान था इसलिये उन्हें छात्रवृत्ति नहीं मिल सकी। किन्तु सन् १८९० में वे इन्टर की परीक्षा में सर्वप्रथम आये और उन्हें छात्रवृत्ति मिलने लगी। इससे उनका आर्थिक कष्ट कुछ कम हो गया। गणित उनका प्रिय विषय था। एक बार जब उनके गणित के प्राध्यापक बीमार हो गये, तब उन्होंने ही गणित की कक्षाएँ ली थीं। यद्यपि वे प्रतिभासम्पन्न छात्र थे पर बी० ए० की परीक्षा में अंग्रेजी विषय में वे कुछ अंकों से फेल हो गये। इसपर भी उनका कुल अंक विश्वविद्यालय में सबसे अधिक था। सन् १८९३ में वे बी० ए० में सर्वप्रथम स्थान पर उत्तीर्ण हुए। गणित के परचे में केवल ९ प्रश्नों को हल करना था किन्तु तीर्थराम ने पूरे १३ प्रश्नों को हल किया था। अब उन्हें प्रति मास ६० रुपया की छात्रवृत्ति

मिलने लगी। वे प्राध्यापक गिलबर्टसन और प्राचार्य बेल के प्रिय छात्र थे। एक दिन प्राचार्य महोदय ने उनके जीवन और उद्देश्य के सम्बन्ध में उनसे पूछा। तीर्थराम ने कहा, "मैं चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को देशवासियों की सेवा के माध्यम से ईश्वर को अर्पित करूँ। मैं गणित पढ़ाकर सबसे अच्छी सेवा कर सकूँगा।" वे सफल जीवन के लिये तीन बातों को आवश्यक समझते थे — अच्छी संगति, उत्तम पुस्तकें और ईश्वर की प्रार्थना। पुस्तकों से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। वे रास्ता चलते-चलते भी पुस्तकें पढ़ा करते, जिससे लोग उनकी खिल्ली उड़ाते थे।

बी० ए० पास करने के बाद तीर्थराम ने गणित विषय में एम० ए० की कक्षा में प्रवेश लिया और सन् १८९५ में वे विशेष योग्यता के साथ एम० ए० की परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान पर उत्तीर्ण हुए। सन् १८९६ में उन्हें उन्हीं के महाविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त कर लिया गया। गणित के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। कठिन से कठिन प्रश्नों का हल वे कुछ ही समय में कर देते थे। १७-१८ अंकों का गुणा वे एक ही पंक्ति में कर देते थे। वे सन्१८९६ से सन्१९०० तक प्राध्यापक-पद पर कार्य करते रहे। इस बीच उनके हृदय में वैराग्य और आध्यात्मिकता की ज्वाला सुलग रही थी। स्वामी विवेकानन्द जब विश्वविजयी होकर भारत लौटे और लाहौरवासियों के आग्रह पर लाहौर गये तब रामतीर्थ ही स्वामीजी के भाषणों के प्रमुख

आयोजकों में से थे। स्वामीजी के प्रवचनों की तीर्थराम पर गहरी छाप पड़ी। 'वेदान्त' नामक व्याख्यान ने तीर्थराम की विचारधारा को एकदम दूसरी दिशा में प्रवाहित कर दिया। यह सन् १८९८ की घटना है।

स्वामी विवेकानन्द जी से मिलने के पहले वे श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित भक्ति-मार्ग के साधक थे। श्रीकृष्ण उनके इष्टदेव थे। श्रीकृष्ण के नामोच्चार मात्र से ही उन्हें उच्च भावावस्था प्राप्त हो जाया करती थी। पर स्वामी विवेकानन्द के साथ इस ऐतिहासिक मिलन के बाद से उनका ध्यान उपनिषदों और वेदान्त की ओर मुड़ गया। सन् १९०० में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और ईश्वर-प्राप्ति के लिए हिमालय चले गये।

सन्यास की ओर उनका झुकाव आकस्मिक या सांवेगिक नहीं था। बचपन से ही उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि वे किसी महान उद्देश्य के लिये उत्पन्न हुए हैं। भारत में संन्यास-ग्रहण की विशेष परम्परा है। उन्होंने उत्तरकाशी में किसी योग्य गुरु की तलाश की जो उन्हें संन्यास-दीक्षा दे सके। वे स्वामी रामाश्रम से मिले और उनसे संन्यासप्रदान करने की प्रार्थना की। पर उन्होंने स्वीकृति नहीं दी। फलतः तीर्थराम ने स्वयं संन्यास ग्रहण किया और स्वामी रामतीर्थ का नाम धारण किया। वे कुछ समय तक हिमालय के पुण्य स्थलों का दर्शन कर सन् १९०१ में नीचे लौट आये। अब उनका सारा समय धार्मिक सत्संग में बीतने लगा। उन्होंने उर्दू भाषा में

'अलीफ' नामक वेदान्तिक पत्रिका का भी प्रकाशन किया जिसके कुछ ही अंक निकले।

स्वामी रामतीर्थ घूम-घूमकर वेदान्त का प्रचार करने लगे। धर्म के सम्बन्ध में उनकी धारणा अतिशय उदार और वैज्ञानिक थी। उनका कहना था कि "धर्म को भी रसायन शास्त्र और भौतिक शास्त्र के समान पढ़ना चाहिये।" उनके विरोधी भी उनका लोहा मानते थे। स्वामी रामतीर्थ केवल शुष्क वेदान्तवादी ही नहीं थे प्रत्युत उनमें देश-प्रेम की भावना भी भरी हुई थी। उनकी देशभक्ति का अनुमान उनकी निम्नोक्त पंक्तियों से लगाया जा सकता है :

"हम और नहीं, तुम और नहीं,
हम सूखे चने चबायेंगे,
भारत का काम बनायेंगे।"

महाराज टिहरी के अनुरोध से स्वामी रामतीर्थ सन् १९०२ में टोकियो में होनेवाली सर्व-धर्म-परिषद् में भाग लेने जापान पहुँचे। यद्यपि यह धर्म-परिषद् सम्पन्न नहीं हुई तथापि यहाँ स्वामी जी को भेंट अनेकानेक विद्वानों से हो गयी। इस सम्बन्ध में भारत-जापान क्लब के सचिव श्री पूरनसिंह ने लिखा है कि दूसरे दिन स्वामी रामतीर्थ इम्पीरियल युनिवर्सिटी के महान प्राच्यविद् टाकाकुसु जो जापान के कारलाइल कहलाते थे, से मिले। टाकाकुसु ने इस भेंट के सम्बन्ध में पूरनसिंह से कहा था, "मैं प्रोफेसर मैक्समूलर के निवासस्थान पर अनेक पंडितों से मिल

चुका हूँ। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड तथा अन्य स्थानों में मैंने महान दार्शनिकों से भेंट की है किन्तु मैंने स्वामी रामतीर्थ के समान दार्शनिकता के जीवित एवं ज्वलन्त व्यक्तित्व का दर्शन नहीं किया। उनमें वेदान्त और बौद्ध धर्म का संगम हुआ है। वे यथार्थतः धर्म हैं। वे वस्तुतः कवि और दार्शनिक हैं।"

जापान में प्रसिद्धि प्राप्त करने के उपरान्त स्वामी रामतीर्थ अमेरिका चले गये। अमेरिकावासियों ने उनमें जीवित ईसा का आभास पाया। स्वामीजी की शिशुवत् सरलता और गम्भीर विद्वत्ताशक्ति ने अमरीकी जनता का हृदय जीत लिया। अमेरिका में श्रम का महत्व देखकर उन्होंने अपने आतिथेय के घर निःशुल्क भोजन करना स्वीकार नहीं किया था। भोजन के बदले वे रोज लकड़ी काट लाया करते थे। उन्होंने वहाँ विनोदवश ३० मील की दौड़ में भी भाग लिया था और सर्वप्रथम आये थे। इसीप्रकार वे १४४४४ फुट ऊँचे शास्टा पर्वत की चढ़ाई-प्रतियोगिता में भी प्रथम आये। पुरस्कार को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि उन्होंने केवल विनोद के लिये इसमें भाग लिया है। अमेरिका में उनकी ख्याति और प्रसिद्धि का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वहाँ के राष्ट्रपति रूजवेल्ट स्वयं स्वामी रामतीर्थ से मिले थे। उक्त अवसर पर स्वामी जी ने उन्हें 'अपील टू द अमेरिकन्स ऑन बिहाफ ऑफ इण्डिया' नामक लेख प्रदान किया था। फलतः अमेरिका में पढ़नेवाले भारतीय

विद्यार्थियों को कई सुविधाएँ और छात्र-वृत्तियाँ प्राप्त हुई थीं। अपने देशवासियों के लिये उन्होंने अमरीकी जनता से प्रार्थना करते हुए कहा था, "भारत के शोषण के बल पर राष्ट्र के बाद राष्ट्र प्रगतिशील होते चले गये। कोलम्बस ने बहु-प्रलोभित भारत की खोज करते हुए अमेरिका को ढूँढ़ निकाला।

राम आपसे उस देश की चर्चा कर रहा है जो कभी संसारका सिरमौर था।"···· आज वहीदेश संसारके चरणों पर गिर पड़ा है। आर्य-परिवार की प्राचीनतम वंशवाहिनी यह भगिनी भारत आज रुग्ण है। इङ्गलैंड और यूरोप की शक्तियो! आज तुम्हें कम से कम उसके स्वास्थ्य की चिन्ता करनी चाहिये। अमेरिकावासियो! क्या तुम नहीं सुनोगे? अमेरिकन प्रेस! क्या तुम सहयोग नहीं दोगे? जिस अमरीकी जनता ने दासता का उच्छेद किया, जिसने अपने देश में जाति-पाँति की प्रथा को मिटाना शुरू किया है, उसीसे भारत सहायता की याचना कर रहा है।···· राम का जन्म भारत की उच्चतम जाति में हुआ है और आज राम अपने देश के सबसे दलित वर्ग के लिये प्रार्थना कर रहा है। आओ, सत्य और न्याय के नाम पर, अन्तरात्मा के नाम पर, भारत के शूद्रों के नाम पर समस्त साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के पर्दे को चीर दो और भारत के दीन-दुखियों की सहायता में हाथ बँटाओ।"

स्वामी रामतीर्थ देश के कल्याण और उसकी जागृति

के लिये शिक्षा पर विशेष जोर देते थे। शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में उनका विचार था कि "शिक्षा का उद्देश्य स्वाधीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि शिक्षा स्वतन्त्रता नहीं ला सकती तो ऐसी शिक्षा को मैं पसन्द नहीं करता।" उनके भाषणों का अमेरिका पर काफी प्रभाव पड़ा। पोर्टलैण्ड ओरेगान में, जिसे गुलाबों का शहर कहा जाता है, गणमान्य लोगों ने 'राम सोसायटी' की स्थापना की। इसके सदस्य एक-दूसरे से मिलते समय 'ॐ' शब्द का उच्चारण करते हुए एक-दूसरे को विशुद्ध भारतीय ढंग से दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। रामतीर्थ सन् १६०४ के अकतूबर महीने में अमेरिका से भारत की ओर रवाना हुए और ८ दिसम्बर को काहिरा पहुँचे। वहाँ की एक मस्जिद में उनके भाषण का आयोजन किया गया। उन्होंने फारसी भाषा में बड़ा प्रभावी व्याख्यान दिया। काहिरा के पत्रों ने लिखा—"अब तक मिले हिन्दुओं में वे सबसे महान हैं।"

स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यानों में राष्ट्रीय-भावना भरी रहती थी। अंग्रेजी-शासन ने उनकी गतिविधियों को संदिग्ध समझकर उनके पीछे गुप्तचर लगा दिये। उन्हें इसका आभास मिल गया। एक दिन उन्होंने पूरनसिंह से कहा, "बलिदान के द्वारा ही देश स्वाधीन होगा। राम का सिर अवश्य कटे, फिर पूरन का, फिर देश के स्वाधीन होने के पहले सैकड़ों दूसरों का। भारत, माता भारत को अवश्य स्वतन्त्र होना है।" एक दिन मथुरा में दो गुप्तचर

वेष बदलकर स्वामी रामतीर्थ के पास आये। स्वामीजी उन्हें देखकर ठहाका मारकर हँस पड़े। उन्होंने कहा, "मेरे देशवासियों, तुम राम की तलाशी लेने आये हो? राम अपना हृदय तुम्हारे सामने खोलता है। राम को ढूँढ़ना संसार का सर्वोत्तम कार्य है। ढूँढ़ो, उसे पा लो, संसार तुम्हारे चरणों में है।" वे गुप्तचर यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हुए और उनके चरणों में गिर पड़े। उन्होंने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "स्वामीजी, हमें क्षमा कीजिये। कर्त्तव्यवश हमें यहाँ आना पड़ा। हम पापी हैं। हम आपके प्रेम के समक्ष पराजित हैं।" उन्होंने स्वीकार किया कि वे सरकार के द्वारा भेजे गये गुप्तचर हैं।

स्वामी रामतीर्थ का देशप्रेम अप्रतिम था। वे देश के साथ एक हो गये थे। उनका राष्ट्रप्रेम भी अद्वैत पर आधारित था। वे कहा करते थे, "क्या तुम देशभक्त बनना चाहते हो?.... तो स्वयं को अपने देश और देशवासियों के प्रेम से अनुप्राणित करो। उनके साथ एकात्मता का अनुभव करो। तुम्हारे और उनके बीच काँच की दीवार का भी अन्तर न हो। देश के हित में अपने वैयक्तिक जीवन का परित्याग कर दो। सच्चे आध्यात्मिक नेता बनो। अपनी क्षुद्र अहम्मन्यता को त्यागकर देश के साथ एकात्मता की अनुभूति करो।.... आगे बढ़ो, देश तुम्हारा अनुकरण करेगा। मुझे महसूस करने दो कि मैं भारत हूँ — सम्पूर्ण भारत हूँ। कन्याकुमारी मेरा पैर है, हिमालय मेरा सिर है। मेरे केशों से गंगा प्रवाहित होती

है। मेरे शीश से सिन्धु और ब्रह्मपुत्रा का आरम्भ होता है। विन्ध्य पर्वत मेरा कटि प्रदेश है। कोरोमण्डल मेरा दायाँ और मलावार मेरा बायाँ पैर है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। उसका पूर्व और पश्चिम मेरी भुजाएँ हैं। इन भुजाओं को फैलाकर मैं मानवता का आलिगन करने के लिये प्रस्तुत हूँ। मेरा प्रेम सम्पूर्ण विश्व के प्रति है। जब मैं चलता हूँ तो सारा भारत चलता होता है। जब मैं साँस लेता हूँ तो लगता है कि सारा भारत साँस ले रहा है। मैं शंकर हूँ–शिव हूँ। यही देशभक्ति की उच्चतम अनुभूति है और यही है व्यावहारिक वेदान्त।"

स्वामी विवेकानन्द के समान स्वामी रामतीर्थ में भी आध्यात्मिकता और राष्ट्रप्रेम का सम्मिलन हुआ था। दोनों का हृदय दीनदुखियों को देखकर पसीज जाता था। यद्यपि वे स्वामी विवेकानन्द के समान कोई महान धार्मिक संगठन नहीं बना सके थे तथापि उनकी ऐसी इच्छा अवश्य थी। ३३ वर्ष की अवस्था में सन् १६०६ की दीपावली की सन्ध्या को वे माँ गंगा के अंक में विलीन हो गये। स्नान करते समय वे भँवर में फँस गये। उन्होंने बाहर निकलने की बड़ी चेष्टा की पर वे सफल नहीं हुए। उनका रसोइया भोलादत्त घाट पर खड़ा था। अन्त में उसने स्वामी रामतीर्थ को यह कहते सुना, "अच्छा माँ! जैसी तेरी इच्छा। ॐ, ॐ, ॐ।" और वे सदा के लिये ओझल हो गये।

उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने

कहा था—"आज के भारतीय महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के शिक्षा-कार्यों में भारत की प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं और उन गहन अनुभूतियों का सर्वथा अभाव है जिन्हें विगत युग के सत्यान्वेषियों ने सहेज रखा था। वर्तमान शिक्षा ईश्वरविमुख है। ऐसी स्थिति में यदि हम अपनी दृष्टि स्वामी रामतीर्थ के जीवन और उनकी अनुभूतियों पर केन्द्रित करें तो उससे हमें पर्याप्त शक्ति और उत्साह की प्राप्ति होगी।"

प्रसन्नता तो चन्दन है, दूसरे के माथे पर लगाइये तो आपकी उँगलियाँ अपने आप महक उठेंगी।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

—विदेश में विद्या दोस्त होती है, गृह में भार्या दोस्त है, रोगी का दोस्त औषध और मरे का दोस्त धर्म है।

—चाणक्य

रक्षा-कवच

श्री संतोष कुमार झा

हमारे जीवन का प्रत्येक निर्णय हमारे नैतिक चरित्र का निर्माण अथवा विनाश करता है। हमारा हर कर्म, हमारे ज्ञात अथवा अज्ञात निर्णयों का क्रियान्वयन मात्र है। हमारे दैनंदिन निर्णयों का संकलित रूप ही हमारा चरित्र है। क्षुद्र वासना-कामनाओं के साथ किया गया हमारा संघर्ष हमें प्रबल और उद्दाम वासनाओं को पराजित करने की सामर्थ्य देता है। प्रलोभनों और परीक्षाओं के समक्ष यही संघर्ष-प्रसून शक्ति हमारी रक्षा करती है।

पाण्डव वनवास का कष्ट भोग रहे थे। युधिष्ठिर को यह निश्चय सा प्रतीत हो रहा था कि दुर्योधन से युद्ध करना ही पड़ेगा। इस विचार के आते ही उनकी मानसिक दृष्टि कौरवपक्ष के उन योद्धाओं पर पड़ती जो भावी युद्ध में उनकी विजयवाहिनी के लिए अभेद्य प्राचीर सिद्ध हो सकते थे। पितामह भीष्म, महारथी कर्ण, अजेय गुरु द्रोण और न जाने कितने योद्धा, जिन्होंने आजन्म समरभूमि में पराजय नहीं देखा था, युधिष्ठिर के मनश्चक्षुओं के सामने एक-एक कर आ रहे थे। कौन वीर रणभूमि में इन नरपुंगवों

से लोहा ले सकेगा ? उनकी दृष्टि वीर अर्जुन पर आकर स्थिर हो जाती।

किन्तु वीरता और सामर्थ्य तो इन महारथियों में भी है; फिर अर्जुन की विशेषता क्या ?

महर्षि व्यास का परामर्श उनके स्मृति पटल पर झलक उठा। यदि अर्जुन तपस्या द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करले तो उसे दिव्य अस्त्र प्राप्त हो सकते हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर अर्जुन अजेय हो जायेगा। फिर उसे समरभूमि में देवगण भी पराजित नहीं कर सकेंगे।

एक दिन एकान्त में युधिष्ठिर ने स्नेह पूर्वक अर्जुन से कहा, "अर्जुन ! पितामह भीष्म की सामर्थ्य, गुरुद्रोण की अजेयता तथा कर्ण की दुर्धर्ष शक्ति से हमें लोहा लेना ही पड़ेगा। तुम निस्संदेह सामर्थ्यवान हो। मुझे तुम्हारी शक्ति पर अटूट विश्वास है। किन्तु ......"

अर्जुन ने व्यग्रता पूर्वक पूछा, "किंतु क्या, तात !"

युधिष्ठिर ने कहा, "तुम अजेय और अपराजित भी हो सकते हो यदि ......"

सव्यसाची ने अधीर होकर कहा, "यदि ! यदि ! राजन्, यदि मुझे ......"

युधिष्ठिर ने बीच में ही कहा, "यदि तुम तपस्या द्वारा इन्द्र को प्रसन्न कर सको तो तुम्हें दिव्य अस्त्र प्राप्त हो सकते हैं। फिर तुम अजेय हो जाओगे। समरभूमि में तुम्हें देवता भी पराजित नहीं कर सकेंगे। तुम्हारी सामर्थ्य और इन्द्र के दिव्य अस्त्रों से विजय-श्री हमारी होगी !"

अर्जुन ने नम्रता पूर्वक निवेदन किया, "भगवान्, आज्ञा दें और मेरा पथ-प्रदर्शन करें कि मुझे क्या करना होगा। मैं आपकी कार्य सिद्धि के निमित्त प्राण भी उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हूँ।"

युधिष्ठिर ने गद्गद् हृदय से अर्जुन को गले लगा लिया। पार्थ ने भी ज्येष्ठ भ्राता की चरणरज लेकर कृपार्थता का अनुभव किया। युधिष्ठिर ने अर्जुन को प्रतिस्मृति विद्या की यथोचित दीक्षा दी और तपस्या के लिये जाने का आदेश दिया।

अर्जुन ने कठोर तप किया। यथासमय उन पर इन्द्र की कृपा हुई। इन्द्र ने उन्हें स्वर्ग में लाने के लिये अपना रथ भेजा। अर्जुन सम्मान पूर्वक स्वर्ग ले जाए गए। वहाँ उन्होंने अनेक दिव्य अस्त्र प्राप्त किए। उनका प्रयोग और संधान आदि सीखा। स्वर्ग में अर्जुन के दिन सुखपूर्वक बीतने लगे।

कृष्ण-सखा ने अपने तपोबल से स्वर्ग प्राप्त किया था। फिर, वे देवराज इन्द्र के पुत्र थे। अतः स्वर्ग में उनका विशेष सम्मान था। उन्हें विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। उनके सम्मान में विशेष नृत्यगान आदि का आयोजन किया गया। अनेक रूपवती अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। हठात् अर्जुन की दृष्टि एक अत्यंत रूपवती अप्सरा पर आकर स्थिर हो गयी। अर्जुन निर्निमेष दृष्टि से उसे निहारते रहे। सुन्दरी अप्सरा ने भी अर्जुन की दृष्टि को पकड़ लिया। देवराज इन्द्र से भी यह बात छिपी न रह सकी।

नारी अपने सौंदर्य को तभी सार्थक समझती है जब ऐसा पुरुष उसकी ओर आकर्षित हो जिसके प्रति अन्य सुन्दरियाँ स्वाभाविक रूप से आकर्षित होती हों। कुन्तीनन्दन तरुण थे, तपस्वी थे। सौंदर्य तथा पौरुष मानों उनमें मूर्तिमंत होकर प्रकट हुए थे। इन्द्रसभा की सभी सुन्दरियों की दृष्टि अर्जुन पर जम सी गई थी और ऐसे अर्जुन की दृष्टि उस सुन्दरी अप्सरा पर जमी थी।

रूप की साम्राज्ञी रूप मद में मस्त हो उठी। एकबार उसने उपेक्षापूर्ण कटाक्ष से अपनी सह-नर्तकियों की ओर देखा। उसकी दृष्टि से रूप का अभिमान, विजय का मद और उपेक्षा का भाव मानों चू सा रहा था। दूसरे क्षण लोलुप-दृष्टि से उसने पुनः इन्द्रकुमार की ओर देखा। वे अभी भी निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देख रहे थे।

सौंदर्य का अभिमान वासनाओं का आमंत्रण है। उसका पर्यवसान भोग में ही होता है। मदन की ज्वाला दृष्टिपथ से प्रविष्ट हो कर विवेक को धूमाच्छादित कर देती है। पुरुष के हृदय में काम की ज्वाला फूस की आग के सदृश है, जो जितनी शीघ्रता से भड़कती है उतनी शीघ्रता से शांत भी हो जाती है। किन्तु नारी की हृदय उस कठोर काष्ठ के समान होता है जिसमें शीघ्र आग लगती नहीं, किन्तु एक बार लगने पर फिर शीघ्रता से बुझती नहीं और भीतर ही भीतर जलती रहती है, धूमाच्छादित करती रहती है। इस धूम की कालिमा में फिर नारी पुरुष का भाव नहीं पढ़ पाती। पुरुष की सात्त्विक चेष्टा

भो फिर उसे तामसिक तृप्ति का आह्वान प्रतीत होती है। यही दशा हो गई थी स्वर्ग की अनिंद्य सुन्दरी अप्सरा उर्वशी की, कुन्तीकुमार अर्जुन को देखकर। अर्जुन की निर्मल निश्चल दृष्टि में उसे कलुषित वासना का आह्वान प्रतीत हुआ।

मन ही मनसिज की जन्म-भूमि है। यही उसकी क्रीड़ा-स्थली है। कल्पना उसकी सहचरी है। कल्पना के अभाव में वह अकर्मण्य और निष्क्रिय हो जाता है। कल्पना का दीर्घकालीन असहयोग मनसिज की मृत्यु का भी कारण हो सकता है। किन्तु दूसरी ओर, कल्पना का सहयोग उसे दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ाता जाता है। शारीरिक भोग तो उसकी अभिव्यक्ति मात्र है।

कल्पना के राज्य में ही मन अपनी रँगरेलियाँ रचता है। कल्पना का सान्निध्य और सौंदर्य उसे विभोर कर देता है। कल्पनाजन्य आनंद में चिंतन की निरंतरता रहती है, जब कि आनंद के ऐन्द्रिक उपभोग में उसका क्षय होता जाता है। सुख के प्रति यह कल्पनाजन्य आकर्षण ही लोभ का कारण है और लोभ तृष्णा को जन्म देता है।

सुन्दरी उर्वशी को भी कल्पना की इस छलना ने खूब छला था। कल्पना के रंगमहल में अर्जुन उसके हो चुके थे। कल्पना उसे पाण्डुनन्दन के सान्निध्य-सुख का रसास्वादन करा रही थी।

पर अर्जुन स्वर्ग की भोग-सामग्रियों के प्रति निर्लिप्त थे। यह उनकी साधना का काल था। मानव-मन की

प्रकृति यह है कि यदि उसे किसी महत् कार्य में निरन्तर लगाया रखा जाय तो वह उस काल तक निम्न वासनाओं से मुक्त रहता है।

अर्जुन के इस भाव को देवराज भी न समझ सके थे। उन्होंने देखा था कि नृत्यशाला में अर्जुन की दृष्टि उर्वशी पर स्थिर है। स्वर्ग भोग का लोक है। वहाँ सभी को मनोवांछित भोगों की प्राप्ति होती है। फिर इन्द्रतनय अर्जुन के लिये स्वर्ग की कोई वस्तु अलभ्य कैसे हो सकती थी। सहस्रनेत्र ने तुरन्त गन्धर्व चित्रसेन को बुलवाया और उसे आदेश दिया — "चित्रसेन! तुम सुन्दरी उर्वशी के पास जाओ और उसे मेरी इच्छा सूचित करो। वह कुमार अर्जुन की सेवा में उपस्थित हो उन्हें प्रसन्न करे।"

आज्ञा पाकर चित्रसेन वहाँ से उर्वशी के भवन की ओर आये। चित्रसेन को आया जान उर्वशी ने उनका ससम्मान सत्कार किया और उनके आने का प्रयोजन जानना चाहा।

चित्रसेन ने देवराज की आज्ञा उर्वशी को सुना दी। रवि-रश्मि के प्रथम स्पर्श से जैसे सरोज खिल उठता है, उसी प्रकार सुन्दरी उर्वशी का हृदय देवराज की आज्ञा सुनकर खिल उठा। उसकी अभिलाषा मानो पूर्ण हुई। इस शुभ सन्देश के लिए उर्वशी ने चित्रसेन को अनेक साधुवाद दिया।

धनञ्जय की रूपराशि पर मुग्ध अप्सरा को क्षण युगों से प्रतीत हो रहे थे। अत्यन्त व्यग्रता और व्याकुलता से

वह दिवाकर के अस्ताचलगामी होने की बाट जोह रही थी। संध्या अभी रात्रि में प्रविष्ट भी न होने पाई थी कि रूप की साम्राज्ञी उर्वशी कुंतीनन्दन अर्जुन के भवन की ओर चल पड़ी।

प्रलोभन के अभाव में स्वेच्छाचारी भी संयत प्रतीत होता है। प्रलोभन वह कसौटी है जिस पर संयम की दृढ़ता की परीक्षा होती है।

तपस्वी अर्जुन के तप और संयम की आज अग्नि-परीक्षा थी। विश्व का प्रबलतम प्रलोभन आज अर्जुन के संयम की परीक्षा लेने को कटिबद्ध था।

द्वारपाल ने सूचना दी—"इन्द्रकुमार! द्वार पर सुन्दरी उर्वशी उपस्थित हैं। भवन में प्रवेश की आज्ञा चाहती हैं।"

कुछ क्षणों के लिए अर्जुन आश्चर्य चकित रह गए। इस असमय में उर्वशी का उनके भवन में आगमन कैसा! किन्तु दूसरे ही क्षण तपस्वी अर्जुन का विवेक जाग उठा। उन्होंने स्वयं की ही भर्त्सना की-"छिः, छिः, इसमें आश्चर्य कैसा? देवी उर्वशी तो पुरुवंश की जननी हैं"—इस विचार के आते ही वे लपक कर द्वार पर आ गए।

कुन्तीकुमार को देखते ही उर्वशी का हृदय मदन के शरों से विदीर्ण हो उठा। वह अलसा सी गई और निर्निमेष दृष्टि से अर्जुन की ओर देखने लगी।

किन्तु यह क्या! अर्जुन तो उसके चरणों पर मस्तक रखकर प्रणाम कर रहे हैं! प्रणत से इन्द्रकुमार अर्जुन ने कहा—"देवि! कहिए क्या आज्ञा है? आप मेरे लिए

गुरु-पत्नी की भाँति पूज्य हैं। मैं आपका सेवक हूँ, आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।"

अर्जुन का अनपेक्षित व्यवहार देखकर उर्वशी कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध हो गई। किन्तु वासना के उद्दाम आवेग ने उसे पुनः उत्तेजित किया। उसने कहा—"कुन्ती-कुमार, तुम ऐसा न कहो! हम अप्सराएँ स्वर्ग में सभी के लिए अनावृत्त हैं। हमारा किसी एक व्यक्ति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। तुम मुझे स्वीकार करो।"

अर्जुन ने आँखें मूँद लीं; कान बन्द कर लिए।

उर्वशी ने कुछ रोष से कहा—"देवेन्द्र नन्दन! उस दिन जब तुम्हारे सम्मान में इन्द्रसभा में नृत्य का आयोजन हुआ था, तब तुम निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर क्यों देख रहे थे? क्या तुम मेरे रूप पर आकर्षित नहीं थे? क्या तुम्हारे मन में मुझे प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं थी?"

अर्जुन ने गद्गद्-कण्ठ से कहा—"माता, तुम यह क्या कह रही हो? मैं तो निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर इसलिए देख रहा था कि तुम हमारे पुरुवंश की जननी हो।"

अर्जुन का संबोधन सुनकर उर्वशी का रोष क्रोध में भड़क उठा। क्रोध के आवेश में वह अपने हृदय की बात छिपा न सकी। काँपते शरीर और फड़कते ओठों से उसने कहा—

"कुन्तीकुमार जब से मैंने तुम्हें देखा है, मेरा मन तुम पर आसक्त हो गया है। मैं इतने दिनों से तुम्हारे सान्निध्य के लिए लालायित थी। आज वह सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे उससे वंचित न करो। मुझे स्वीकार करो।"

अर्जुन ने अत्यंत विनीत भाव से कहा—"कल्याणि ! तुम जो कह रही हो उसे सुनना भी मेरे लिए पाप है। देवि ! कुन्ती, माद्री और शची को मैं जिस दृष्टि से देखता हूँ उसी दृष्टि से तुम्हें भी देख रहा हूँ। तुम्हारे चरणों पर मस्तक रखकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। माता, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। मेरी रक्षा करो। मुझे आशीर्वाद दो।"

काम के कलुषित धूम ने उर्वशी के विवेक को आच्छादित कर लिया था। कामांध उर्वशी की भोग तृप्ति में अर्जुन के संतान-भाव ने अवरोध उत्पन्न कर दिया। इस अवरोध ने उर्वशी के हृदय की क्रोधाग्नि को और भी भड़का दिया। उसकी बुद्धि नष्ट हो गई और अर्जुन को शाप देकर उसने सदैव के लिए अपनी जाति को ही कलंकित कर लिया।

अनिंद्य सुन्दरी उर्वशी जिसके एक कटाक्ष के लिए देवगण भी लालायित रहते थे, जिसके नयन-शरों ने बड़े-बड़े देवताओं को भी विदीर्ण कर दिया था, अर्जुन के समीप वह किसलिए पराभूत हो गयी ? अर्जुन के पास ऐसा कौन सा कवच था जिसने उनकी रक्षा की थी? यह "रक्षा-कवच" था पवित्र मातृभाव—माता की वह पावन नाम, जिसे सुनकर वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। वासना-पंक से मलिन मन इस मातृभाव की पूतसलिला जाह्नवी में अवगाहन कर निर्मल और शुद्ध हो जाता है। यह अक्षय "रक्षा-कवच" आज भी कितने साधक अर्जुनों की उर्वशियों से रक्षा कर रहा है।

गोपाल कृष्ण गोखले

डा० त्रेतानाथ तिवारी

(गतांक से आगे)

श्री महादेव गोविन्द रानाडे गोखले के राजनैतिक गुरु थे जिनसे उन्होंने अपने जीवन-कार्य की तैयारी करने की शिक्षा पाई थी। वे आपसे चौबीस वर्ष बड़े थे। गोखले की आयु उस समय केवल २१ वर्ष की थी। आपने उनके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। प्रत्येक विषय में आप उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करते थे। रानाडे हाईकोर्ट के जज थे किन्तु यह तो उनके कार्यक्षेत्र का अत्यन्त ही लघु अंश था। देश-सेवा का ऐसा कोई क्षेत्र न था जिसमें उन्होंने सेवाकार्य एवं नेतृत्व का पथ-प्रदर्शन न किया हो। उनके निदर्शन में गोखले ने सरकार की अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी सामग्री का अत्यन्त गंभीरता से अध्ययन किया जो उन्हें बड़े बड़े सरकारी कमीशनों के क्षेत्र में कार्य करते समय उपयोगी सिद्ध हुआ। रानाडे अत्यंत कर्तव्य-परायण थे। प्रति बुधवार को दोनों की राजनैतिक चर्चा की बैठक होती थी! एक बार गोखले को ज्वर आ जाने पर उन्होंने कहा था कि ज्वर तो दवा से दूर हो जायेगा किंतु एक बुधवार की चर्चा की हानि की पूर्ति किसी प्रकार

न हो सकेगी। रानाडे ने अनेक देशसेवी नवयुवक तैयार किये थे और गोखले उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति थे। गोखले की अंग्रेजी भाषा-शैली स्पष्ट, उदात्त, सरल एवं प्रवहमान होती थी। रानाडे के आदेश से उन्होंने उसमें से शब्दाडंबर दूर कर उसे विचारप्रवण एवं गंभीर बना लिया।

आप रानाडे की विद्वत्ता की अपेक्षा उनके नैतिक सद्-गुणों का अधिक सम्मान करते थे। आपने कहा है कि रानाडे इतने उदात्त एवं निर्मल तथा पवित्र हृदय थे कि उनके सम्मुख उपस्थित होने पर हीन विचार व्यक्त करना तो दूर रहे उन्हें हृदय में प्रवेश करने देने में भी भय प्रतीत होता था। लोकमान्य तिलक ने कहा है कि महाराष्ट्र की नूतन जन-जागृति एवं निर्भयता का श्रेय रानाडे को ही प्राप्त है। ऐसे योग्य गुरु के निदर्शन में गोखले ने राजनैतिक देशसेवा की तैयारी की एवं सरकार के सम्मुख जागृत भारत के दृष्टिकोण को उपस्थित करने के मिस देश की स्वातंत्र्य विचारधारा को पल्लवित किया।

तिलक से गोखले का अनेक विषयों में मतभेद था और बारंबार आपस में टीका-टिप्पणी का अवसर उपस्थित हो जाता था किंतु आप अपने सम्मुख कभी उनके विषय में किसी को अवमानना सूचक वाणी न बोलने देते थे। वे कहते थे, तिलक में दोष हो सकते हैं। मुझसे उनका मतभेद हो सकता है, किंतु आपमें और उनमें क्या बराबरी है? वे महापुरुष हैं। उनके सहजात सद्गुण

अत्युच्च हैं। देशसेवा के लिये उन्होंने सद्गुणों का पोषण किया है। मैं भले ही उनकी प्रणाली स्वीकार नहीं करता किंतु उनके उदार उद्देशों की उच्चता के विषय में शंका का किंचित् भी स्थान नहीं। विश्वास रखें, उनके समान स्वार्थत्याग देश के लिये अन्य किसीने नहीं किया है। सरकार के विरोध में उनके समान कष्ट किसी को नहीं उठाना पड़ा है। उनके समान दृढ़ता, धैर्य एवं साहस का परिचय देशसेवा में किसी ने नहीं दिया है। इस विरोध में उन्हें सर्वस्व खोने के भी 'अवसर आये हैं एवं उन्होंने पुनः अपने दृढ़ मनोबल से सब सुधार लिया है।

लार्ड कर्जन ने गोखले की C. I. E. पद के लिये एवं लार्ड हार्डिंज ने K. C. I. E. पद के लिये सिफारिश की। पद-प्रदान के पूर्व पत्र द्वारा आपसे स्वीकृति माँगी गई। बड़े सुन्दर और नम्र शब्दों में आपने लार्ड हार्डिंज तथा सम्राट को धन्यवाद देते हुए प्रार्थना की, "मैं, अधिकांशतया व्यक्तिगत कारणों से, जैसा हूँ वैसा ही रहना चाहता हूँ एवं यद्यपि किसी प्रकार आपकी आज्ञा के उलंघन का विचार मनमें नहीं ला सकता तथापि मेरी इतनी सी नम्र विनय स्वीकार करने की प्रार्थना करता हूँ।"

सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा है कि जब वे गोखले से वार्ता करते तो जान पड़ता मानो वे गुलाब के फूल बिछाते चले जा रहे हैं! सरोजिनी नायडू की कविता में आपको विशेष रस आता और जब कभी आप उनकी

कविता या व्याख्यान से प्रसन्न होजाते तो उनके पास प्रशस्ति लिख भेजते थे। ऐसा ही आप अन्य स्नेहियों के साथ भी करते थे। डा० मेहता ने कहा है कि आप अत्यंत दयालु एवं विचारशील थे तथा दूसरों की भावनाओं का बहुत ही समादर करते थे। आपका नस-नस में सज्जनता भरी थी और यह सज्जनता अत्युच्च कोटि की थी। अतः गाँधी जी ने आपको जो अपना राजनैतिक गुरु स्वीकार किया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

आपको कुछ कहना होता तो शब्दों की रचना आप विचारपूर्वक पहले ही सुन्दरता से करलेना पसंद करते थे। उदाहरणस्वरूप आपके ये शब्द दादाभाई नौरोजी के विषय में हैं — "कांग्रेस ने उन्हें खो दिया। अब उनकी सहायता एवं सतर्क सँभाल हमें प्राप्त न होगी। वे हमारे काल के सर्वाग्रणी भारतीय हैं। उनका चरित्र अतीव निर्मल था, जिसमें स्वार्थ की कोई गन्ध न थी। वे हमारे वयोवृद्ध नेता थे जिनके मस्तिष्क पर दीर्घ वर्षों के अनुभव की जमी हुई हिमश्वेत आभा जगमगा रही थी पर जिनके हृदय के अभ्यंतर में युवावस्था की ज्वाला धधकती थी।"

जब गोखले की उम्र कम थी तब लोग आप को नास्तिक ही मानते थे किन्तु प्रौढ़ावस्था में आप "परमेश्वर स्नेह स्वरूप हैं" इस महावाक्य पर बड़ी आस्था रखने लगे थे। यद्यपि एक मित्र ने तीन वर्ष तक आपके नाम पर चन्दा दे थियासोफी में आपका नाम लिखवा दिया था,

पर आप थियासोफिस्ट न थे। इस कारण जनता में भ्रम भी फैल गया था किन्तु बाद में आपने अपना नाम हटवा लिया। सात बार आप विलायत गये और वहाँ प्रतिबार कई मास रहे तथापि सामिष-भोजन एवं मद्य से पूर्णतया दूर ही रहे।

आप के पास धन अधिक न था किन्तु आप हृदय से अतीव उदार थे। आप राजाओं के समान इनाम देते थे। मित्रों एवं सम्बन्धियों की मुक्त हस्त से सहायता करते थे तथा योग्य कार्यों में उदारता पूर्वक दान देते थे।

आपको मधुमेह का रोग था एवं हृदय का दौर्बल्य भी था। अतः आप पथ्य पर रहते थे। किन्तु तले बैंगन आप को सदा प्रिय थे एवं उनमें इतनी मिर्च रहती थी जितनी दाक्षिणात्य लोग पसन्द करते हैं। किसी समय आयुर्वेदिक दवा में आपने बहुत घी का सेवन किया था। इसके परिणाम स्वरूप आपको घी से नितान्त अरुचि होगयी थी। यहाँ तक कि अपने पास वालों की थाली में भी आप घी को देख न सकते थे। आपका एक पुत्र शैशव में ही काल-ग्रस्त हो गया एवं एक पुत्री कुमारी अवस्था में चल बसी। दूसरी पुत्री बी० ए० पास हुई एवं जस्टिस ढवले की धर्म-पत्नी हुई। आप सार्वजनिक कार्यों में बहुत व्यस्त रहते थे, इसलिए आपकी पुत्रियाँ आपसे अलग अपनी बुआ के साथ रहती थीं एवं नियत समय पर आकर आपसे भेंट कर जाती थीं। आप अपने घर में ही अतिथि से थे। 'सर्वेन्ट्स ऑफ इन्डिया सोसाइटी' बनजाने पर तो आप

उसी के निवास गृह में रहने लगे। एक बार आपकी पुत्री काशीबाई भेंट करने आकर दीर्घकाल प्रतीक्षा करनेपर भी आपसे बातचीत न कर पाई। इस बात से आपको उस रोज रात भर निद्रा न आई। काशीबाई ने (अपनी दी हुई रेडियो वार्ता में) कहा था, "इस कारण मैं बहुत रोई थी और बाद में ज्ञात हुआ कि पिता जी भी बहुत दुःखी हुए थे।

"एक बार पिताजी को कक्षा-कार्य में एक विद्यार्थी ने परास्त कर दिया। आपने अपनी पुस्तक फाड़कर फेंक दी एवं एक मित्र की पुस्तक लेकर उसे पूर्णतया कण्ठस्थ कर डाला।"

आयर्लैण्ड में रेलयात्रा करते समय एक ही बार टाइम टेबल देखकर आप उस मार्ग के सब स्टेशनों के नाम बोल गये जिससे सहयात्रियों को अतीव आश्चर्य हुआ।

एक बार आप पहिले दर्जे में रेलयात्रा कर रहे थे। एक अंग्रेज फौजी अफसर ने आपका सामान बाहर फेंक दिया। वह पूरे डिब्बे में अकेले यात्रा करना चाहता था। किसी ने उसे बताया कि आप महान् पुरुष हैं एवं वाइस-राय की कौंसिल के सदस्य हैं तब उसने सामान पुनः रखकर क्षमा माँगी। आपने तो कुछ नहीं कहा किन्तु एक मित्र ने इसकी रिपोर्ट लार्ड कर्जन के पास कर दी। कर्जन क्रोध से लाल हो गये। वे गोखले का बहुत सम्मान करते थे। आपसे लार्ड कर्जन ने उस अफसर का नाम पूछा

एवं कहा कि मैं उसे भलीभाँति दंडित करूँगा किन्तु गोखले ने उत्तर दिया कि एक अफसर को दंड देने से कुछ न हो सकेगा। यह तो शासन में निहित दोष के कारण हो रहा है। जब तक वहाँ से सुधार न होगा तबतक ऐसी बातें होती ही रहेंगी।

एक बार इसी भाँति न्यायमूर्ति रानाडे के दत्तक पुत्र को एक फौजी अफसर ने चपत मार दी। इस पर गोखले ने फौज के मुख्याधिकारी को पत्र लिखकर अपराधी से माफी मँगाई।

पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य की हैसियत से आपको एक रिजर्व्हड् फर्स्टक्लास कम्पार्टमेन्ट मिलता था। एक बार उसमें भूपेन्द्र नाथ बसु ने जगह माँग ली। उसके ऊपर वे एक मित्र को भी साथ ले आये। उन्होंने आपको ऊपर को बेंच पर जाने को भी राजी कर लिया। बातचीत कर-करके दोनों ने आपके आराम में भी पूरी बाधा पहुँचाई। आपकी सहिष्णुता एवं नम्रता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

एक बार छात्र-संघ की ओर से आपको सभापतित्व का निमन्त्रण आया। सभा विल्सन कालेज हाल में थी। वहाँ के प्रिन्सिपल ने आपसे वचन ले लेना चाहा कि राजनीति पर आप कोई चर्चा न करेंगे। पर आपने वचन न दिया और राजनीति पर बोले भी। पहले से आपने इसकी सूचना भी भेज दी थी कि मैं राजनीति पर बोलने वाला हूँ।

लार्ड कर्जन ने कहा था, "श्री गोखले की संसद्-योग्यता अद्वितीय है। आप दुनिया की किसी भी पार्लियामेंट में, यहाँ तक कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में भी सर्व श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ सिद्ध हुए होते।"

श्री रैमसे मैकडानाल्ड ने कहा था, "हम लोगों को रायल कमीशन में कई दिन एक साथ कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। आपका व्यक्तित्व, आपका ज्ञान, आपकी मानसिक सामग्री, आपकी दृढ़ता एवं विषय का साधिकार प्रतिपादन सब मुझे अनन्त आश्चर्य में डुबा देते थे।"

भारत सरकार के खर्च में कमी करने की दृष्टि से विचार करने को वैलबी कमीशन बैठा। जस्टिस रानाडे उसमें साक्ष्य देने जाने वाले थे किन्तु भारत सरकार ने यह पसन्द न किया कि एक सरकारी कर्मचारी सरकार के विरुद्ध बोले। अतः गोखले को भेजा गया। कमीशन के सभी सदस्यों ने आपसे अनेकों प्रश्न पूछे। उन सबका आपने युक्तियुक्त एवं भारत के पक्ष में दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया। दृष्टिकोण में मतभेद होते हुए भी सभी सदस्य आपकी योग्यता एवं सूक्ष्म अध्ययन से प्रभावित होते रहे। आपने प्रतिपादित किया कि समस्त भारतीय कोष भारतीयों के हितमें व्यय किया जाये क्योंकि वह भारतीयों का ही है तथा अंग्रेज अफसरों एवं फौज पर होने वाले भारी व्यय में कमी लाने का सुझाव दिया।

आपने यह भी कहा कि अँग्रेजी फौज के बदले भारतीय फौज रखने से भी व्यय में विशेष कमी आसकती है। गवाही के पश्चात् आपने वहीं इंग्लैण्ड की जन-सभाओं में अनेक भाषण दिये एवं पार्लियामेंट के सदस्यों से व्यक्तिगत चर्चा कर अपने आर्थिक दृष्टिकोण से उन्हें अवगत कराया। आपने बंबई सरकार की भी उसकी प्लेग संबंधी नीतियोंके कारण कटु आलोचना की। इससे सरकार अप्रसन्न हो गई एवं आपके लौटने पर मुकदमा चलाने का उपक्रम करने लगी। आपने अपने बचाव के लिये उन मित्रों से प्रमाण माँगे जिनके लिखित पत्रों से आपको तथ्य प्राप्त हुए थे, किंतु मित्रगण प्रकाश में आने में आनाकानी करने लगे। इस परिस्थिति में आपको रानाडे के आदेशानुसार सरकार से क्षमा माँगनी पड़ी। आपने देश की भलाई के सम्मुख अपनी व्यक्तिगत मानमर्यादा के भाव को कोई महत्त्व न दिया। इस यात्रा में आपकी पुत्री भी साथ थीं! वापस आने पर बंबई में आपका महान् स्वागत हुआ जिसमें आपकी पुत्री से कहा गया कि अब गोखले केवल उनके पिता न रहकर समस्त देश के पिता हो गये हैं। पुत्री ने उत्तर में कहा, "मुझे भी बड़ा भारी लाभ हुआ है जो इतने भाई मिल गये।"

बाद में आप बंबई कौंसिल के सदस्य हुए एवं पीछे वाइसराय की कौंसिल के लिये चुने गये। अंग्रेज समझते थे कि भारतीय लोग अर्थशास्त्र की गुत्थियों में प्रवेश नहीं रखते। किंतु आपके बजट व्याख्यानों से उनकी

धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। यहाँ तक कि लार्ड मिन्टो भी एक बार आपकी प्रतिभा से आश्चर्यान्वित हो गये।

लार्ड कर्जन के १९०३ के 'आफिशियल सीक्रेट्स बिल' का आपने घोर विरोध किया।

सन् १९०४ में भारत मंत्री ने गोखले के सुझावों को स्वीकार करते हुए बजट बनाने की आज्ञा दी थी।

महामना मालवीयजी ने कहा था कि ब्रिटेन से नवयुवा राजनीतिज्ञ वाइसराय आये हैं, उसके उत्तर में हमारे देश ने भी नवयुवा गोखले को उपस्थित किया है एवं ब्रिटिश राजनीतिज्ञ असफल रहा है।

१९१० में प्रेस एक्ट के समर्थन में गोखले ने भाषण दिया किंतु बाद में अपनी गलती अनुभव कर उसे रद्द कराने का असफल प्रयत्न किया।

आप नमक टैक्स हटाने अथवा घटाने के पक्ष में थे एवं पूर्ण मद्य-निषेध के लिये भी सदा 'उद्योग करते रहे।

१९०५ में आप बनारस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। लार्ड कर्जन ने कहा था कि भारतीयों को राजनैतिक अधिकार उनकी भलाई की दृष्टि से ही नहीं दिये जा रहे हैं।

इस कथन की तथा और अनेकों बातों की आपने कड़ी आलोचना की। इस समय गोखले नरमदलीयों से कुछ भिन्न विचार रखने एवं तिलक आदि के विचारों के कुछ कुछ समीप आने लगे थे। शासन सुधार, स्वदेशी, शिक्षा पर अधिक व्यय आदि प्रश्नों पर उस अधिवेशन में प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

इसी वर्ष सवन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी की स्थापना हुई। गोखले इसके आजीवन व्रती बने एवं सतत प्राणपण से उसकी उन्नति के प्रयत्नों में सन्नद्ध रहे। योग्य देश-सेवकों का निर्माण इस समिति का मुख्य ध्येय था।

बंग भंग के विरोध में देश में प्रबल जनमत था। गोखले के कौंसिल व्याख्यान पर से कांग्रेस ने आपको इङ्गलैण्ड भेजने का निश्चय किया। वहाँ जाकर आपने अपने भाषणों से देश की दशा का उत्तम चित्रण किया एवं भारत सचिव से भी अनेक बार मिले। लौटने पर आप कांग्रेस के आदेश से उत्तर भारत में जन-जागृति के लिये निकले। लाला लाजपतराय को उन दिनों देश निकाला देकर मंडाले जेलमें डाल दिया गया था। कौंसिल में आपने अनेक बार उनके संबंध में चर्चा उठाई एवं एक कड़ा लेख उस संबंध में लिखा। पंजाब के प्रति उनकी उत्कट सहानुभूति एवं सेवाओं से समस्त पंजाब उन्हें अपना समझने लगा।

१९१० में आपके ही सुझाव से कौंसिल में सुधार हुआ था क्योंकि इस सम्बन्ध में पहले ही आपने लार्ड मोर्ले से चर्चाकर परामर्श दिया था।

दक्षिण आफ्रिका में भारतीय शर्तबन्द मजदूर ले जाने की प्रथा बन्द कराने का भी आपने प्रयत्न किया एवं वहाँ के अपने देशवासियों की यथार्थ स्थिति का समुचित अध्ययन करने की दृष्टि से आप स्वयं वहाँ गये।

जहाजवालों ने आपको प्रथम कक्षा का पट्ट देना अस्वीकार कर दिया किन्तु आप इससे विचलित न हुए। लौटकर आपने वहाँ के देश भाइयों के लिये प्रचुर द्रव्य एकत्रित करके भेजा।

लार्ड मिंटो और लाड मोर्ले से शासन सुधार के संबंध में आपकी दीर्घ चर्चा चली एवं दोनों ने आपकी योग्यता, व्यक्तित्त्व, देशभक्ति एवं दृढ़ता की भूरिभूरि प्रशंसा की।

रायल कमीशन वास्तव में आपही के सुझाव से नियुक्त हुआ एवं आपने उसमें प्रशंसनीय कार्य अवैतनिक रूपसे किया तथा इसी अवधि में आपका देहान्त हुआ। तीनवर्ष पूर्व से आपका स्वास्थ्य क्षीण होने लगा था यद्यपि आपकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि कमीशन का कार्य समाप्त होते तक रहूँ। इस विचार से आप पथ्य आदि में अतीव सावधानी रखने लग गये थे। गाँधीजी के स्वागत में १३ फरवरी १९१५ को एक फल-भोज दिया गया। उसमें आप सम्मिलित हुए किन्तु बीच ही में अचेत हो गये। आपको घर लाया गया। एक-दो दिन स्वास्थ्य में सुधार दृष्टिगोचर हुआ। आपने पुनः तीन घण्टे तक कार्य कर एक वक्तव्य तथा कुछ पत्र लिखवाये। सायंकाल को पुनः स्वास्थ्य खराब हुआ एवं दूसरे दिन १९ फरवरी को आप निश्चित रूपसे जान गये कि अब प्रयाण सन्निकट है। आपने अपने नौकरों को अलग अलग बुलाया एवं शुभ-कामना प्रकट की। सन्ध्या ६ बजे अपनी बहिन एवं पुत्रियों को भी बुलाया तथा अलग अलग वार्ताकर सबको

विदा किया। आपने इच्छा प्रकट की कि अन्त समय में वे लोग आपके पास न रहें। अब सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के सदस्य, उनके चिकित्सक डा० देव तथा घनिष्ठ मित्र श्री एच० एन० आपटे ही उनके पास रहे। मुखपर मंदहास्य के साथ मराठी में आप बोले, "जीवन के इस पार का अध्याय तो मेरे लिये उत्तम रहा। अब समय आ गया है कि दूसरी ओर जाकर देखूँ।" उन्हें किसी प्रकार का खेद न था एवं अन्तरात्मा शान्त थी। सबसे अन्त में श्री ए० ह्वी० पटवर्धन—वामन राव—बुलाये गये जो सोसायटी के प्रेस की देखभाल करते थे। आप बोले, "वामन राव, मैं अनेक बार तुमसे कड़े शब्द कह गया हूँ, क्षमा करना।" श्वास बढ़ने लगा किन्तु मुख मुद्रा शान्त ही रही। दृष्टि निर्मल तथा मन सचेत था। अन्त तक मुद्रा अतीव सन्तुष्ट एवं धैर्य पूर्ण थी। अन्तिम सलाह उन्होंने सोसायटी को चलाते रहने की दी थी।

भीड़ के कारण शवयात्रा अपराह्न में डेढ़ बजे प्रारम्भ हुई। श्री देवधर, तिलक, भांडारकर आदि ने भूरि-भूरि प्रशंसा युक्त श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं। शोक उपलक्ष में हाईकोर्ट बन्द रहा एवं कौंसिल स्थगित रही। लार्ड हार्डिञ्ज ने कहा, "मेरे लिये वे एक योग्य मेम्बर के अतिरिक्त घनिष्ठ मित्र भी थे।" दादाभाई नौरोजी ने कहा, "गोखले की मृत्यु से मेरी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया है, किन्तु समस्त देश उनके दुख से दुखी है इसी का सन्तोष है।"

—०*०—

<u>प्रश्न</u>—कहा जाता है कि ईश्वर-कृपा के बिना कुछ भी नहीं होता। तो क्या पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं है?

—श्रीमती जानकी पंडा, टाटानगर

<u>उत्तर</u>—पुरुषार्थ और ईश्वर-कृपा में कोई विरोध नहीं है। जो विरोध देखते हैं उन्होंने गलत समझा है। पुरुषार्थ से ईश्वर-कृपा का लाभ होता है और उससे कार्य की सिद्धि होती है। जो पुरुषार्थी नहीं है, उसे भगवान् की कृपा से वंचित रह जाना पड़ता है।

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे – भगवान् की कृपा रूपी वायु हरदम बह रही है। वह सब पर समान रूप से बहती है। जैसे नौकावाला, जब वह पाल तान देता है तो वह समान रूप से बहने वाली हवा को अधिक मात्रा में ग्रहण करता है। उसी प्रकार, पुरुष अपना पाल तान कर अर्थात् पुरुषार्थ प्रकट कर सर्वत्र समान रूप से विद्यमान इस भगवत्कृपा का अधिकारी बनता है।

प्रश्न भगवान् की ओर से देने का नहीं है; उनकी कृपा

तो सदैव प्राप्य है। प्रश्न है अपनी ओर से ग्रहण करने का, उनकी कृपा की विद्यमानता को अनुभव करने का। और यहीं पर पुरुषार्थ का प्रयोजन सिद्ध होता है।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रश्न—श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहीं पर कहा है कि किसी को गुरु बनाने के पहले उसकी अच्छी तरह जाँच कर लेनी चाहिये। पर यह हमलोगों के लिए, जो धर्म के क्षेत्र में अनजान हैं, कैसे सम्भव है?

—राधारमण देसाई, बड़ौदा

उत्तर—आपका प्रश्न उचित है। किसी की जाँच करना सरल नहीं है। फिर, आध्यात्मिकता एक ऐसी चीज है जिसको मापने के लिए कोई यंत्र नहीं है। तथापि कुछ मोटी बातें हैं जिनके आधार पर आप गुरु का चुनाव कर सकते हैं:—

(१) गुरु का चरित्र अच्छा हो। इसका तात्पर्य यह है कि वे अनैतिक प्रवृत्तियों और अन्य दुष्कर्मों से सर्वथा दूर हों।

(२) गुरु निःस्पृह हों। उनमें लालच न हो। उनके पास बैठने से पैसे-पैसे की पुकार न सुनाई दे।

(३) गुरु की वाणी और कर्म—कथनी और करनी—में भेद न हो। जो व्यक्ति उपदेश में एक बात कहे और आचरण में उसके विपरीत करे, वह गुरु बनने का अधिकारी नहीं है।

(४) गुरु निन्दापरायण न हों। जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करने में रस लेता है और अकारण ही अन्य साधुओं, सन्तों एवं महानुभावों की निन्दा करता रहता है, उसे कदापि गुरु के रूप में वरण नहीं करना चाहिए।

समीक्षायन :

समीक्ष्य कृत : हिमगिरि-विहार

मूल लेखक : स्वामी तपोवन जी महाराज

अनुवादक : सुधांशु चतुर्वेदी

प्रकाशक : स्वामी महादेववनम, उत्तर काशी (उ.प्र.)

पृष्ठ : २८३ मूल्य दस रुपये ।

प्रस्तुत ग्रन्थ स्वामी तपोवनम जी महाराज के मूल मलयालम ग्रन्थ 'हिमगिरि-विहार' का हिन्दी अनुवाद है। उत्तरी-भारत और हिमालय प्रदेश के परिव्राजक संतों में स्वामी तपोवनम जी प्रमुख हैं। स्वामी अपूर्वानन्द कृत 'कैलाश और मानस तीर्थ यात्रा' की समीक्षा करते हुए हमने कहा था कि हिन्दी में यात्रा-वृत्तान्तों की नितान्त कमी है। यह ग्रन्थ इस कमी को बहुत अंश तक पूरा करता है।

'हिमगिरि-विहार' में हिमालय प्रदेश के प्रायः सभी प्रमुख तीर्थ स्थानों का सारग्राही चित्रण हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखक की पुस्तकें अन्य भाषाओं में भी अनूदित हो चुकी हैं जिनमें 'कैलाश-यात्रा' विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की सामग्री तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में हृषीकेश, उत्तरकाशी, जम्नोत्री और गंगोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ और शारदा क्षेत्र का वर्णन किया गया है। दूसरे भाग में अमरनाथ, ज्वालामुखी, रिसाल सरोवर

मणिकर्णिका और वशिष्ठ, त्रिलोकीनाथ, पशुपतिनाथ, चन्दननाथ, खोचरनाथ, मानस और कैलास जैसे दुर्गम तीर्थों का विवरण है और अन्तिम भाग में थोलिंग मठ, मानसरोवर और श्रीगोमुख का यात्रा-वृतान्त है।

लेखक की प्रकृति-निरीक्षण की शक्ति अतिशय सूक्ष्म एवं उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण है। हिमालय को लेखक घनीभूत आध्यात्मिकता का प्रतीक मानता है। हिमालय के प्रत्येक दृश्य में उसे आध्यात्मिकता की तरंग उठती दिखायी देती है। सम्पूर्ण हिम-प्रदेश ईश्वरीय चेतना से परिव्याप्त है। यात्रा-वर्णन के साथ आध्यात्मिक भाव धारा का सिंचन सर्वत्र हुआ है। लेखक की भाषा-शैली आद्यन्त प्रवाहमयी है तथा अपने गहन प्रभाव में पाठक को डुबोए रखती है। ऐसे ग्रन्थों का साहित्य में विशिष्ट स्थान है। अनुवाद सरस है और अनुवादक के द्वारा मूल-भाव की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। यह ग्रंथ संग्रहणीय और मननीय है। पुस्तक की छपाई सुन्दर और ऊँचे कागज पर हुई है। इसलिये इसका मूल्य अधिक प्रतीत नहीं होता।

पुस्तक का नाम : विवेकानन्दसंस्कृतविद्वद्गोष्ठीस्मारकाञ्जलिः
संकलन कर्ता : स्वामी अपूर्वानन्द
प्रकाशक: स्वामी अपूर्वानन्द, अध्यक्ष,
श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी
मूल्य : दो रुपये पृष्ठ : ११५.

"विवेकानन्द-संस्कृत-विद्वद्गोष्ठी-स्मारकाञ्जलिः" एक संग्रहात्मक संस्कृतग्रन्थ है। इसमें संस्कृत के अनेक छात्र छात्राओं तथा विद्वानों के निबन्ध एवं भाषणों के सार संस्कृत भाषा में संगृहीत किए गए हैं। इन सभी विद्वानों ने स्वामी विवेकानन्द को 'वेदान्तधर्म प्रतिष्ठाता युगाचार्य' के रूप में उपस्थित करने का सफल प्रयास किया है। इसके पढ़ने से स्वामीजी की सत्यनिष्ठा, धर्म, देश-प्रेम का प्रामाणिक चित्रण सामने आता है, जो स्पृहणीय है।

स्वामीजी का धर्म, जाति आदि की परिभाषा वर्ग-भेद से रहित है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन होने के कारण सर्व-साधारण के लिए यह ग्रन्थ अधिक उपादेय सिद्ध हुआ है। विशेषतः स्वामीजी का वैयक्तिक जीवनेतिहास, उनकी विदेशयात्रा के महत्वपूर्ण कार्यक्रम, आदि का संक्षेप में वर्णन इस ग्रन्थ का प्रमुख विधेयांश है। अल्प समय वाले व्यक्ति भी न केवल स्वामीजी का पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकते हैं बल्कि साथ-साथ धर्म, जाति, देश, वेद, वेदान्त, हिन्दूधर्म, ईसाईधर्म, पारसीधर्म, इस्लामधर्म, तथा दार्शनिक तत्वों को समन्वयात्मक परिभाषा का भी अच्छा

ज्ञान कर सकते हैं। जनसाधारण के जीवन संबंधी अनेक पहलुओं पर विचार करने के लिए यह उत्तम संग्रह है। जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह ग्रन्थ सच्चा मार्ग है। इस ग्रन्थ में, संस्कृत ग्रन्थों में निबद्ध भारत के प्राचीन ज्ञानकोष के उद्धरणों द्वारा स्वामी विवेकानन्द की अनेक मान्यताओं का समर्थन किए जाने के कारण यह संग्रह लौकिक उपकारों के अतिरिक्त अलौकिक तत्वों का भलीभाँति ज्ञान कराता है जो जीवों के आयुष्मिक सुख प्राप्ति में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

मेरी धारणा है कि यह पुस्तक संस्कृत समाज, धार्मिक समाज, गृहस्थ एवं विरक्त समाज के लिये पर्याप्त उपयोगी है।

प्राध्यापक रा० न० ओझा

जो आदमी हमेशा अमृत ही पीता है उसको अमृत उतना मीठा नहीं लगता जितना कि जहर का प्याला पीने के बाद अमृत की दो बूँदें।

— महात्मा गाँधी

अमेरिका में नये मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा और धर्म-परिसंवाद का विशेष विवरण

विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, ५४२३ साउथ हाइड पार्क बिल्डिग, शिकागो, इलिनॉइस, ८०६१५ की सितम्बर १९६८ की सूचना-पत्रिका और निमन्त्रण-पत्र के अनुसार विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी के नये मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा ७ सितम्बर को सम्पन्न हुई। इस अवसर पर मिशन के सात संन्यासी और आमन्त्रित जन भारी संख्या में उपस्थित थे। सेन्ट लुइस के स्वामी सत्प्रकाशानन्द; वेदान्त सोसायटी, न्यूयार्क के स्वामी पवित्रानन्द; रामकृष्ण वेदान्त सेन्टर, सीटल, वाशिंगटन के स्वामी विविदिषानन्द; रामकृष्ण वेदान्त सोसायटी, बोस्टन के स्वामी सर्वगतानन्द; वेदान्त सोसायटी, नार्दर्न केलिफोर्निया, सैन फ्रांसिस्को के स्वामी श्रद्धानन्द; वेदान्त सोसायटी, साउथ केलिफोर्निया, हालीवुड के स्वामी वन्दनानन्द और स्वामी शान्तानन्द प्रतिष्ठा-महोत्सव के एक-दो दिन पहले ही शिकागो पहुँच गये थे। उनकी उपस्थिति से उत्साह और पवित्रता का वातावरण छा गया था। नये भवन की साज-सजावट कलात्मक ढंग से की गयी थी। इस नये मन्दिर में १३० व्यक्ति सरलता से समा सकते हैं। इसमें एक आकर्षक वेदी और पीठिका है जिस पर श्रीरामकृष्ण

की कांस्य प्रतिमा की स्थापना की गयी है। इस प्रतिमा का निर्माण शिकागो के उत्कृष्ट मूर्तिकार श्री हर्मन गैरफील्ड ने किया है तथा यह श्रीरामकृष्ण के चित्र की यथार्थ प्रतिकृति प्रतीत होती है। नये मन्दिर की दूसरी मंजिल पर पूजा-गृह है। इसमें पाटलकाष्ठ के चार सिंहासन हैं जो भारत से प्रतिष्ठा-महोत्सव के दो दिन पहले ही पहुँचे हैं।

प्रतिष्ठा-उत्सव के दिन प्रातःकाल साढ़े पाँच बजे अभ्यागत संन्यासीगण निमन्त्रित सज्जनों एवं स्थानीय भक्तों के साथ पूजा-गृह में एकत्रित हुए। विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो के अध्यक्ष स्वामी भाष्यानन्दने मंगल-आरती की। तत्पश्चात् औपनिषदीय शांतिपाठ हुआ तथा श्रीराम कृष्ण, श्री माँ और स्वामी विवेकानन्द का स्तुति-गायन हुआ। तदुपरान्त सामूहिक ध्यान किया गया। प्रातःकालीन पूजा से मन्दिर में एक गम्भीर आध्यात्मिक वातावरण छा गया था। सुबह साढ़े आठ बजे नियमित पूजा प्रारम्भ हुई। वेदान्त सोसायटी, नार्दर्न केलिफोर्निया से आये हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने सोपचार पूजा की। इस कार्य में हालीवुड आश्रम के स्वामी वन्दनानन्द तथा शिकागो आश्रम के कुछ ब्रह्मचारियों ने उनका हाथ बँटाया। वेदान्त सोसायटी, सेन्ट लुइस के अध्यक्ष स्वामी सत्प्रकाशानन्द ने चण्डी-पाठ किया। उनके पाठ से प्रातःकालीन पूजा का वातावरण अतिशय गहन और पवित्र बन गया। ग्यारह बजे पूजा समाप्त हुई। इसके बाद होम किया गया। भक्तगण मन्त्रमुग्ध

होकर उसका अवलोकन कर रहे थे। इनमें से बहुत से लोगों ने अपने जीवन में होम नहीं देखा था। श्रीरामकृष्ण को पक्वान्न भोग अर्पित करने तथा आरती के पश्चात् पूजा की समाप्ति हुई। स्वामी सर्वगतानन्द ने विशेष रूप से पक्वान्न भोग तैयार किया था। प्रातःकालीन पूजा में लगभग ५० भक्त उपस्थित थे। इसके उपरान्त भक्तों ने भोग-प्रसाद के साथ भोजन किया। इस प्रकार पूजा का पहला भाग दोपहर को डेढ़ बजे समाप्त हुआ।

सन्ध्या साढ़े छः बजे भक्त और आमंत्रित गण भारी संख्या में मंदिर में आने लगे। इस उत्सव में २०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु सात बजे तक पूरा पूजा-गृह और बरामदा अभ्यागतों से खचाखच भर गया। स्वामी भाष्यानन्द के नेतृत्व में सभी संन्यासियों की शोभायात्रा दूसरी मंजिल से पहली मंजिलमें स्थित पूजा-गृह की ओरनिकली। उन सबने वेदी के दाहिने ओर अपना स्थान ग्रहण किया। स्वामी भाष्यानन्द ने सान्ध्य-सभा का संचालन किया। पूजा-भवन का समूचा वातावरण आध्यात्मिकता और भक्ति की भावनाओं से पूरित था। स्वामी भाष्यानन्द ने संस्कृत के श्लोको का पाठ करते हुए उनकी अंग्रेजी में व्याख्या की और सभा की कार्यवाही प्रारम्भ की उन्होंने अपने संक्षिप्त परिचयात्मक भाषण में उत्सव की भूमिका बतायी और इसमें सहयोग देने वाले लोगों को धन्यवाद प्रदान किया। तदुपरान्त उन्होंने इस उत्सव के लिये

विशेषरूप से आमन्त्रित संन्यासियों का परिचय कराते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे सभा को सम्बोधित करते हुए कुछ शब्द कहें। आमंत्रित संन्यासियों ने अत्यन्त प्रेरक व्याख्यान दिये जिससे प्रातःकालीन पूजा के द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक वातावरण और भी उद्दीप्त हो गया। इसके बाद स्वामी भाष्यानन्द ने सभा का समारोप किया तथा सोसायटी की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री मिलरने उपस्थित जनसमूह और आमन्त्रित अतिथियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

इसके पश्चात् सभी श्रोतागण बाहरी दालान में 'बुफे डिनर' के लिये एकत्रित हुए। श्रीमती मिलर के नेतृत्व में आश्रम के ब्रह्मचारियों ने बहुत सुन्दर रात्रि-भोज का आयोजन किया था। २०० से अधिक भक्त और अतिथिगण भोज में उपस्थित थे। रात्रि को साढ़े दस बजे यह कार्यक्रम समाप्त हुआ।

शिकागो में सन् १८९३ में हुई धर्म-परिषद् की ७३ वीं वर्षगांठ मनाने के लिये इस महोत्सव के एक अंग के रूप में ११ सितम्बर, रविवार को धर्म-परिसंवाद का आयोजन किया गया। छः वक्ताओं ने ईसाई-धर्म, यहूदी-धम बौद्ध-धर्म, हिन्दू-धर्म, इस्लाम-धर्म और यूनिटेरियन-धर्म का प्रतिनिधित्व किया। परिसंवाद सन्ध्या साढ़े सात बजे प्रारम्भ हुआ। स्वामी भाष्यानन्द इसके अध्यक्ष और संचालक थे। उन्होंने वक्ताओं का परिचय कराते हुए ७३ वर्ष पूर्व की उस अविस्मरणीय घटना का उल्लेख किया जब भारत के महान् संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने धर्म-परिषद् में व्याख्यान

दिया था और सभी धर्मों में निहित समानता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। उनका यह कार्य विश्व-धर्म के क्षेत्र में एक महान् देन है। इस परिसंवाद के सभी वक्ताओं ने धर्मों की पारस्परिक समानता और सौहार्द पर बल दिया। अंत में स्वामी भाष्यानन्द ने धर्म-परिषद् में स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान के महत्वपूर्ण उद्गारों को उद्धृत करते हुए सभा का समारोप किया। सौ से अधिक श्रोतागण इस परिसंवाद में उपस्थित थे।

बैठनेवाले का भाग्य भी बैठ जाता है और खड़े होनेवाले का भाग्य भी खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार सोनेवाले का भाग्य भी सो जाता है और पुरुषार्थी का भाग्य भी गतिशील हो जाता है। चले चलो, चले चलो।

—वेदवाणी

आश्रम-समाचार

(१ दिसम्बर १६६६ से २८ फरवरी १६६७ तक)

साप्ताहिक सत्संग—

रविवासरीय सत्संग के अन्तर्गत ४ और ११ दिसम्बर को श्री प्रेमचन्दजी जैस की रामायण पर सरस कथा हुई। १८ और २५ दिसम्बर को 'बंगाली स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध श्री स्वामी पूर्णानन्द जी के 'ऋजुयोग' पर प्रवचन हुए। १जनवरी को श्रीरामकिंकर जी रामायणी के प्रवचन का टेप रिकार्ड श्रोताओं को सुनाया गया।

८ जनवरी से स्वामी आत्मानन्द ने "नारद भक्ति सूत्र" पर अपना साप्ताहिक प्रवचन प्रारम्भ किया। १५, २९ जनवरी तथा ५, १२, १९ और २६ फरवरी को इसी पर प्रवचन चलते रहे। इन प्रवचनों ने भारी संख्या में लोगों को आकर्षित किया है।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम—

३ जनवरी को श्री माँ सारदा देवी के जन्म-महोत्सव के उपलक्ष में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता चिरमिरी के लाहिड़ी महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सुविमल चटर्जी ने की। इस अवसर पर डा० नरेन्द्र देव वर्मा तथा श्री सन्तोष कुमार झा ने श्री माँ की जीवनी और उनके सन्देशों पर प्रकाश डाला। ७ फरवरी को श्री प्रेमचन्द जैस ने रामायण पर कथा की।

विवेकानन्द जयन्ती—

स्वामी विवेकानन्द जी की १०५ वीं जयन्ती के उपलक्ष में आश्रम में २१ से लेकर २५ जनवरी तक विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। इस जयन्ती-समारोह का उद्घाटन मध्यप्रदेश

के राज्यपाल श्री के. सी. रेड्डी महोदय ने २१ जनवरी को किया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना ने की। अपने उद्घाटन-भाषण में राज्यपाल महोदय ने स्वामी विवेकानन्द के स्फूर्तिदायक, शक्तिदायी विचारों की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि स्वामीजी में प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता तथा आधुनिक विज्ञान की लौकिकता का अपूर्व समन्वय हुआ था। उन्होंने तत्कालीन भारत को दिशा प्रदान की और राष्ट्रीय नवजागरण का सूत्रपात किया। डा० सक्सेना ने अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी विवेकानन्द की बहुमुखी प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि स्वामीजी का महनीय कार्य देश की सुप्त आत्मचेतना को प्रबुद्ध करना था। अमेरिका को केन्द्र बनाकर उन्होंने विश्व के कोने कोने में भारत की आध्यात्मिकता और वेदान्त की दुन्दुभि बजायी थी। स्वामी आत्मानन्द ने अपने वक्तव्य में स्वामीजी के युगद्रष्टा पक्ष पर विचार किया। उन्होंने कहा कि यह भारत का सौभाग्य रहा है जो ऐसे मनीषी यहाँ की वसुन्धरा पर आविर्भूत होकर देश को युग के अनुकूल पथ का प्रदर्शन करते हैं।

२२ जनवरी को 'महापुरुषों के सन्देश' पर एक परिसंवाद का आयोजन किया गया। इसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर प्राध्यापक उर्मिलाप्रसाद शुक्ल, प्रा० कनककुमार तिवारी, प्रा० हरवंशलाल चौरसिया, प्राचार्य अरुणकुमार सेन, डा० बालचन्द्र जैन, डा० कन्हैयालाल वर्मा, फ़ादर जोसेफ़ पोलैण्ल, प्रा० ए० एस० रिज़वी, ज्ञानी संतसिंहजी मस्कीन, डा० नरेन्द्र देव वर्मा, प्रा० डी० एस० वर्मा और प्रा० देवेन्द्रकुमार वर्मा ने क्रमशः राम,

कृष्ण, कन्फ्यूशस, बुद्ध, महावीर, जरथुस्त्र, ईसा, मुहम्मद, नानक, श्रीरामकृष्ण, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के सन्देश पर चर्चा की।

स्वामी आत्मानन्द ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि संसार के विभिन्न धर्मों के ये महापुरुष अलग अलग भाषा में एक ही सन्देश का प्रचार करते हैं और वह है – 'ईश्वर या आत्मचेतना के निकट पहुँच जाओ'। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के कारण भले ही उनकी शैली भिन्न भिन्न हो, पर वे सभी एक ही सत्य का गायन करते हैं। धर्म और सम्प्रदाय को लेकर आपस में झगड़ना उसी प्रकार का व्यर्थ कार्य है जैसे कोई फलों को कीचड़ में गिराकर खाली टोकरी के लिए झगड़े।

समारोह के तीसरे दिन, २३ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित की गयी थी जिसका विषय था — 'नैतिक शिक्षा का अभाव ही छात्र-असन्तोष का कारण है।' रनिंग शील्ड मेडिकल कालेज, रायपुर को प्राप्त हुई।

२४ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन भाषण प्रतियोगिता रखी गयी थी जिसकी अध्यक्षता राजकुमार कालेज के प्राचार्य श्री ह्वी ह्वी सोवानी ने की। प्रतियोगियों ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश के भिन्न भिन्न पहलुओं पर भाषण दिये। रनिंग शील्ड शासकीय बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला, रायपुर को प्राप्त हुई।

समारोह के अन्तिम और पाँचवे दिन, २५ जनवरी को स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में एक रोचक परिसंवाद का आयोजन किया गया था जिसका विषय था — 'गीता से मैंने क्या सीखा है'। इसमें तीन वक्ता थे – दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक लक्ष्मी-

कान्त शर्मा, शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती विद्या गोलवलकर तथा श्री सन्तोषकुमार झा । तीनों वक्ताओं ने अत्यन्त प्रभावी ढंग से गीता से प्राप्त सीख को श्रोताओं के सम्मुख रखा और गीता के कर्मयोग की विशेष विवेचना की।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम—

९ दिसम्बर को रविशंकर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित परिसंवाद में स्वामीजी ने भाग लिया। इस परिसंवाद का विषय था — 'छात्र-असन्तोष'। ११ दिसम्बर को स्वामी आत्मानन्द नागपुर में थे जहाँ केन्द्रिय योजना मंत्री श्री अशोक मेहता ने अखिल भारतीय कूर्मि क्षत्रिय महासभा क अधिवेशन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर राष्ट्रसन्त श्री तुकड़ो जी महाराज एवं स्वामीजी ने अधिवेशन को आशीर्वचन प्रदान किये। उसी दिन रात्रि ९ बजे स्वामी आत्मानन्द ने, धर्म की वैज्ञानिकता' पर युक्ति युक्त प्रवचन भी दिया।

१५ दिसम्बर को भिलाई इस्पात कारखाने के कल्याण महाविद्यालय द्वारा 'मध्य प्रदेश के महापुरुष' विषय पर परिसंवाद आयोजित किया गया था जिसकी अध्यक्षता करते हुए स्वामीजी ने महानता की कसौटी प्रदर्शित की। १६ दिसम्बर को उन्होंने स्थानीय शासकीय संस्कृत महाविद्यालय के छात्रसंघ का उद्घाटन किया। १९ दिसम्बर को वे सागर में सन्त तारण तरण जयन्ती उत्सव में प्रमुख अतिथि के रूप से उपस्थित थे। २१ दिसम्बर को इन्दौर में गीताभवन, मनोरमागंज द्वारा आयोजित गीता जयन्ती का स्वामीजी ने उद्घाटन किया और २६ दिसम्बर तक प्रतिदिन वे वहाँ गीता पर प्रवचन करते रहे।

१३ जनवरी को अन्तर्राष्ट्रीय योग विद्यालय द्वारा रायगढ़ में

आयोजित द्वितीय अन्तर्प्रान्तीय सम्मेलन में स्वामीजी ने भाग लिया और श्रोताओं को 'योग की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि' विषय पर सम्बोधित किया। १४ जनवरी की सुबह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा आयोजित मकर संक्रान्ति उत्सव में भाग लेते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म पर विचार प्रकट किये। उसी दिन संध्या योग सम्मेलन में उन्होंने भक्ति का सहज योग' विषय पर सरस भाषण दिया।

१६ जनवरी को धमतरी के नूतन कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय के वार्षिकोत्सव का उद्घाटन स्वामीजी द्वारा किया गया। इस अवसर पर उन्होंने छात्रों के दायित्व पर विशेष चर्चा की। १९ जनवरी को आरंग की शासकीय उच्चतर माध्यमिक शाला ने 'पालक-दिवस' मनाया जब स्वामी आत्मानन्द ने शिक्षा की व्यावहारिकता पर सारगर्भित प्रकाश डाला। उन्होंने पालक, विद्यार्थी और शिक्षक को एक त्रिभुज के रूप में निरूपित किया और यह बतलाया कि 'पालक-दिवस' को अधिक गतिशील और कार्यक्षम कैसे बनाया जा सकता है। २० जनवरी को परसतराई ग्राम में कूर्मिक्षत्रिय सभा का अधिवेशन हुआ। इसका उद्घाटन करते हुए स्वामीआत्मानन्द ने उन सामूहिक गुणों पर चर्चा की जिनके बल पर कोई भी समाज आगे बढ़ता है।

१ फरवरी को स्वामी जी चिरमिरी में थे। वहाँ के लाहिड़ी महाविद्यालय ने विवेकानन्द-जयन्तीकेउपलक्ष में त्रिदिवसीय समारोह आयोजित किया था। पहले दिन यानी १ फरवरी को स्वामीजी ने एकत्र जनसमुदाय को 'युगपुरुष विवेकानन्द' पर, २ फरवरी को 'गीता का कर्मयोग' पर और ३ फरवरी को 'विज्ञान के युग में धर्म का

भविष्य' पर अत्यन्त प्रभावी शैली में सम्बोधित किया। इन तीनों दिनों की अध्यक्षता क्रमशः कुरासिया कालरी के डी० एस० ओ० सी० श्री महीपसिंह, कोरिया कालरी के डी० एस० ओ० सी० श्री टी० आर० जयरामन तथा चिरमिरी कालरी के मैनेजर श्री टी० भट्टाचार्य ने की। आसपास की कालरियों के अधिकारीगण भी बड़ी संख्या में इन भाषणों में उपस्थित रहते थे।

७ फरवरी को स्वामीजी ने बैतूल के शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के छात्रों, शिक्षकों एवं आमन्त्रित नागरिकों के समक्ष भाषण दिया। उसी दिन सन्ध्या उन्होंने वहाँ नवस्थापित विवेकानन्द ज्ञान मन्दिर का उद्घाटन किया। इस अवसर पर नगर के गण्यमान्य, प्रतिष्ठित जन बड़ी संख्या में उपस्थित थे। अपने उद्घाटन-भाषण में स्वामीजी ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश के आध्यात्मिक पथ पर विशेष बल दिया।

८ फरवरी को सुबह स्वामीजी ने वहीं के शासकीय महाविद्यालय की संस्कृत परिषद् के अन्तर्गत 'उपनिषदों के तत्वज्ञान की व्यावहारिकता' पर अत्यन्त सारगर्भित व्याख्यान दिया। महाविद्यालय के प्राचार्य श्री निजामी ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। उसी दिन स्वामीजी ने ज्ञानमन्दिर के सदस्यों की विशेष बैठक में 'ध्यान की प्रक्रियाओं' पर चर्चा की और ध्यान का तरीका प्रदर्शित किया।

१० फरवरी को सम्बलपुर (उड़ीसा) के समीप स्थित शासकीय मेडिकल कालेज, बुरला ने स्वामीजी को आमन्त्रित किया था। कालेज के वार्षिकोत्सव के अन्तर्गत 'गीता-संसद' का उद्घाटन स्वामीजी द्वारा किया गया। प्राचार्य सेन ने कार्यक्रम की

अध्यक्षता की। इस अवसर पर बड़ी संख्या में उपस्थित छात्रों, शिक्षकों और आमन्त्रित नागरिकों को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने गीता के व्यवहार-पक्ष पर तर्कपूर्ण और सरस चर्चा की और गीता के कूट श्लोकों की सुललित व्याख्या की। उसी दिन अपराह्न लोगों के विशेष आग्रह पर स्वामीजी को पुनः गीता पर बोलना पड़ा। प्रवचन के उपरान्त प्रश्नोत्तर के लिए समय दिया गया। लोगों ने, विशेषकर विद्यार्थियों ने, कुछ बड़े अच्छे प्रश्न पूछे। स्वामीजी ने सबका समुचित उत्तर प्रदान किया।

१३ फरवरी को स्वामीजी टाटानगर में थे। वहाँ असिस्टेंट कंट्रोलर ऑफ अकाउण्ट्स श्रीवर्मा के निवास स्थान पर उन्होंने उपस्थित जनसमुदाय के आग्रह पर भक्ति के मूल तत्त्वों पर चर्चा की और बतलाया कि मन में भक्ति के भावों को किस प्रकार तीव्र बनाया जा सकता है।

१४ फरवरी को वे मुंगेर में थे। बिहार योग विद्यालय ने उन्हें अपने प्रतिस्थापन दिवस समारोह के उपलक्ष में आमन्त्रित किया था। वहाँ स्वामीजी ने 'भक्ति का सहज योग' विषय पर सरस प्रवचन किया।

२१ और २२ फरवरी को गोंदिया (महाराष्ट्र) के विवेकानन्द अध्ययन मन्दिर ने द्विदिवसीय भाषणमाला का आयोजन किया था। विषय था—'श्रीरामकृष्ण परमहंस देव'। ये दो दिन स्वामी आत्मानन्द ने भगवान् श्रीरामकृष्ण के लीलामय जीवन की भावप्रवण चर्चा की और उनके अमृतमय उपदेशों की व्याख्या करते हुए आत्मोन्नति का मार्ग प्रदर्शित्त किया। बड़ी संख्या में उपस्थित होकर नर-नारियों ने इस प्रवचनमाला का लाभ उठाया।

मुद्रकः—श्री बिश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।